कणिका में प्राउट

द्वितीय खण्ड

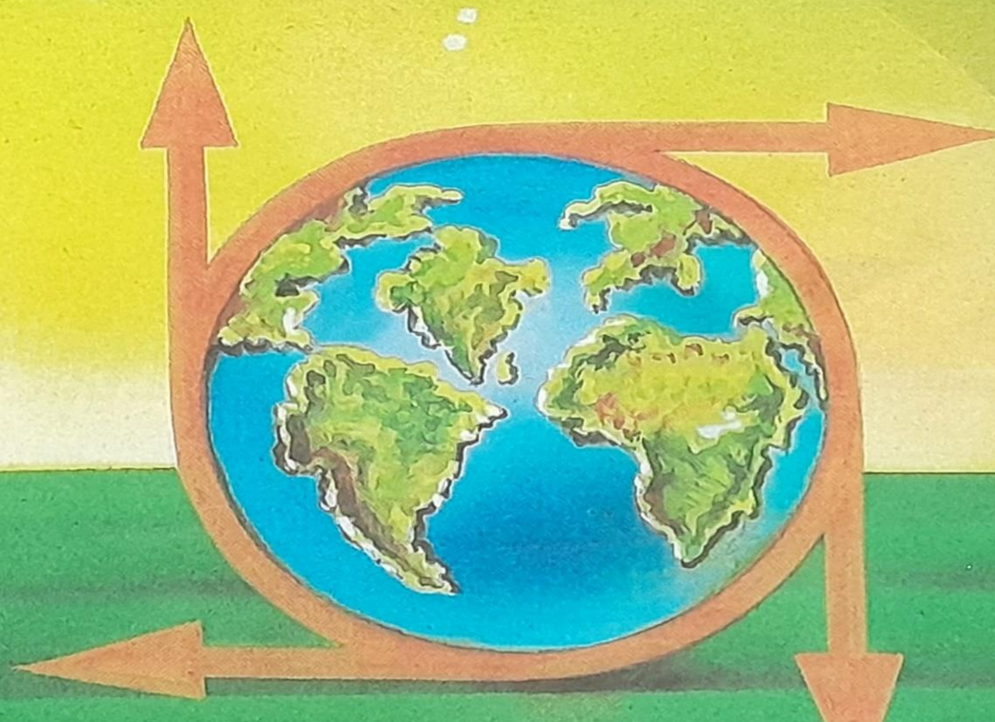

श्री प्रभात रंजन सरकार

कणिका में प्राउट

(द्वितीय खण्ड)

श्री प्रभातरञ्जन सरकार

सूचो-पत्र

आनन्दमायं प्रचारक संघ द्वारा सर्वस्वत्व संरक्षित

मूल बंगला से अनुदित

प्रकाशक :

आचार्य सुधीरानन्द अवधूत

प्रकाशन सचिव

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (रजिष्टर्ड)

भि. आई. पी नगर, तिलजला, कलिकाता-३६,

प्रथम संस्करण- जनवरी १६६० ई०

मुद्रक :

आचार्य पीय़ुषानन्द अवधूत

आनन्द प्रिन्टर्स, तिलजला, कलिकाता-३६

Price Rs. 12.00

प्राप्तिस्थान :

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ भि. आई. पी नगर, तिलजला

सूचो-पत्र

कलिकाता-३६,

चरम निर्देश

“जो दोनों समय नियमित रूप से साधना करते हैं , मृत्युकाल में परमपुरुष की भावना उनके मन में अवश्य ही जगेगी और निश्चित रूप से उनकी मुक्ति होगी ही । अतः प्रतयेक आनन्दमार्गी को दोनों समय साधना करनी ही होगी - यही है परमपुरुष का निर्देश । यम - नियम के बिना साधना नहीं हो सकती । अतः यम - नियम का पालन करना भी परमपुरुष का ही निर्देश है । इस निर्देश की अवहेलना करने का अर्थ है कोटि - कोटि वर्षों तक पशुजीवन के क्लेश में दग्ध होना । किसी भी मनुष्य को उस क्लेश में दग्ध होना नहीं पड़े तथा परमपुरुष की स्नेहच्छाया में सभी आकार शाश्वती शान्ति लाभ करें , इसलिए सभी मनुष्यों को आनन्दमार्ग के कल्याण - पथ पर लाने की चेष्टा करना

ही प्रत्येक आनन्दमार्गी का कर्त्तव्य है। दूसरों को सत्पथ का निर्देशन करना साधना का ही अंग "

श्री श्री आनन्दमूर्ति

रोमन संस्कृत वर्णमाला

विभिन्न भाषाओं का ठीक - ठीक उच्चारण करने के लिए तथा द्रुतलेखन के प्रयोजन को समझकर निम्नलिखित पद्धति से रोमन संस्कृत वर्णमाला का प्रवर्त्तन किया गया है

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
অ	আ	ই	ঈ	উ	ঊ	ঋ	ৠ	ঌ	ৡ	এ	ঐ	ও	ঔ	অং	অঃ
a	á	i	ii	u	ú	r	rr	lr	lrr	e	ae	o	ao	am	ah

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ক	খ	গ	ঘ	ঙ	চ	ছ	জ	ঝ	ঞ
ka	kha	ga	gha	uṋa	ca	cha	ja	jha	iṋa

सूचो-पत्र

ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
ট	ঠ	ড	ঢ	ণ	ত	থ	দ	ধ	ন
ṫa	ṫha	ḋa	ḋha	ṅa	ta	tha	da	dha	na

प	फ	ब	भ	म
প	ফ	ৰ	ভ	ম
Pa	pha	ba	bha	ma

य	र	ल	व
য	র	ল	ব
ya	ra	la	va

श	ष	स	ह	क्ष
শ	ষ	স	হ	ক্ষ
sha	śa	sa	ha	kśa

अँ	ज्ञ	ऋषि	छाया	ज्ञान	संस्कृत	ततोऽहं
অঁ	জ্ঞ	ঋষি	ছায়া	জ্ঞান	সংস্কৃত	ততোঽহং

an̮ jin̮a rśi cháya jin̮ána saḿskrta tato’haḿ

a á b c d d́ e g h i j k l m ḿ n
ń n̮ o p r s ś t t́ u ú v y

समग्र विश्व में बहुत प्रचारित रोमन लिपि के २९ अक्षर मात्र से संस्कृत भाषा का ठीक - ठीक उच्चारण किया जाना सम्भव है । इसमें युक्ताक्षर का भी झमेला नहीं है । अरबी , फारसी और अन्यान्य f, q , gh , z , प्रभुति अक्षरों का प्रयोजन रहता है , संस्कृत में नहीं । शब्द के मध्य या शेष में ' ड ' , ' ढ ' यथाक्रम ' ड़ ' और ' ढ़ ' ' रूप में उच्चारित होते हैं । ' य ' (जहाँ ' य ' का उच्चारण ' इ ' , ' अ ' होता है) के समान वे भी कोई स्वतंत्र वर्ण नहीं हैं । प्रयोजन के अनुसार और असंस्कृत शब्द लिखने के समय ŕa और ŕha व्यवहार किया जा सकता है ।

गैर- संस्कृत शब्द लिखने के लिए दिए गए दश अतिरिक्त अक्षर

क़ ख़ ज़ ड़ ढ़ फ़ य़ ल़ ९ अँ

सूचो-पत्र

क़	ख़	ज़	ड़	ढ़	फ़	य़	ल़	त्	अँ
qua	qhua	za	ŕ	ŕha	fa	ya	lra	t	aṋ

सूचो-पत्र

विषय

विचार (न्याय)

विभिन्न वृत्तियाँ

स्वभावगत- अपराध

अभ्यासगत अपराधी

परिवेशगत अपराधी

कानून व्यवसायी :

चिकित्सक

होमियोपैथिक

(न्याय) विचार

का भावार्थ है सत्य तक पहुंचने के लिए विशेष प्रकार का मनः संचालन । यद्यपि मनुष्य आपेक्षिकता की दुनियाँ में रहता है, तब भी इस आपेक्षिक जगत् में जो सत्य प्रतीत होता है उसे ही समाजदेह में न्याय कहेंगे। न्याय का सबसे बड़ा यही लाभ है कि इसके सम्यक् प्रयोग के परिणाम स्वरूप समाजदेह मैं शुभ-अशुभ, शिव-अशिव के बीच स्थायीरूप से एक अशेष युद्धमान भाव लगा रह जायगा जिसके 'परिणामस्वरूप मानव-मनीषा शिवत्व का मार्ग खोज सकने का अधिक सुअवसर पायेगी । लोग कहते हैं आदमी की बुद्धि हो कितनी है कि यह आदमी का न्याय करेगा ! मनुष्य - का न्याय करने का अधिकार मनुष्य को नहीं हैं। मैं इसे बिल्कुल अस्वीकार नहीं करता पर आपेक्षिक जगत् में मनुष्य को जितनी बौद्धिक पूंजी है उसका उचित व्यवहार न करना भी क्या उचित हैं ? संभव है, हमेशा

न्याय ठीक न हो। न्याय का मापदण्ड निर्धारण भी अनेक बार त्रुटिपूर्ण हो सकता हैं अथवा न्यायपति की चिन्ताधारा या मनोवृत्ति भी संभव हैं उसे दूसरे पाँच लोगों के सामने आदर्श पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करने में सहायक न हो, तो भी क्या न्याय को उठा देना पड़ेगा ? नहीं- निश्चय ही नहीं। किसी की मनीषा को प्रगति का मापदण्ड या Standard किसी भी समय न तो शाश्वत माना गया है, न माना जायगा, तोभी सब क्षेत्रों में imperfection से Perfection की और पहुंचने की प्रचेष्टा रखनी होगी। यह प्रचेष्टा ही परोक्षरूप से मनुष्य जाति के सर्वात्मक कल्याण की विजययात्रा का मार्गे सुगम कर देगी ।

किसी भी क्षेत्र में किसी एक सिद्धान्त पर पहुंचने के साथ ही न्याय का काम पूरा हो जाता है। अतः न्याय स्वयं अपने में सम्पूर्ण नहीं हैं। न्याय के सिद्धान्तों को कार्यरूप देने में एक व्यवस्था पूरी होती है। अर्थात् सिद्धान्त के अनुरूप व्यक्ति या समाज के सम्बन्ध में शांतिमूलक और भी उपयुक्त रूप से कहा जाय तो संशोधन-मूलक व्यवस्था ली जाए तभी सामाजिक जीवन में न्याय की सार्थकता अनुभूत होती है। न्याय का मापदण्ड ही जब किसो भी अवस्था में सन्देहातीत रूप से सत्य नहीं है; तब उसके ऊपर आधारित सिद्धान्त के अनुसार किसी को दण्ड देने में खूब सतर्क रहने की आवश्यकता को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। मैं समझता हूँ कि न्याय को पद्धति कितनी भी अच्छी क्यों न हो उसमें भूलचूक रहेगी। अतः यही कहना पड़ेगा कि मनुष्य के विरुद्ध मनुष्य

दण्डमूलक व्यवस्था ले यह प्रकृति नहीं चाहती है। गम्भीर रूप से सोचने पर देखता हू' कि जब भी किसी को दण्ड देने के उद्देश्य से कोई व्यवस्था ली जाती है, उस समय दण्ड देने वाले के मन में न्याय करने की भावनाह की अपेक्षा प्रतिशोध लेने का भाव अर्थात् एक हिंसामूलक भाव जग उठता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि दण्डमूलक व्यवस्था शब्द ही मनुष्य के समाज जीवन से उठ जाना चाहिए। किसी के विरुद्ध जब कोई (चाहे वह न्यायपति हो या साधारण मनुष्य) व्यवस्था ले; तो वह दण्डमूलक न हो कर संशोधनमूलक होना उचित है। संशोधनमूलक व्यवस्था में अपराधी - वह कैसे भी हीन अपराध में लिप्त क्यों न हो -किसी के विरुद्ध अभियोग करने योग्य कोई बात खोज कर भी नहीं पा सकेगा। न्याय में त्रुटि होने पर भी वहाँ उसकी कोई क्षति नहीं होगी। यदि वह सचमुच अपराधी हो, तव

संशोधनमूलक व्यवस्था से वह जितना उपकृत होगा वह यदि अपराधी न हो तो भी संशोधनमूलक व्यवस्था से उसका उपकार छोड़ कर अपकार नहीं होगा । मुझे असल में यह कहना है कि न्यायपद्धति की त्रुटि के कारण कोई निरीह आदमी यह कह सकने अथवा सोच सकने का अवसर न पाए कि अर्थाभाव के कारण मैं अच्छा वकील नहीं रख सका; इसीलिए मुझ निर्दोष को दण्ड भोगना पड़ा है। असलो अपराधी यदि कानून को चकमा देकर बाहर निकल जाए या पुलिस की अयोग्यता के कारण पकड़ा ही न जा सके, उससे समाज की अवश्य क्षति होगी किन्तु यदि न्याया पद्धति के दोष से किसी निरीह व्यक्ति को दण्डभोग करना पड़े तो बड़ी क्षति होगी। सामाजिक अथवा मानवीय दृष्टिकोण से देखने पर मालूम होगा कि किसी के भी विरुद्ध संशोधनमूलक व्यवस्था लेने का अधिकार किसी भी

दूसरे व्यक्ति को है- अर्थात् सब को है। यह तो मनुष्य मात्र के जन्मसिद्ध अधिकार की बात है। जिसे किसी न किसी कारण मनुष्य के सम्पर्क में आने का मौका मिलता है, उसकी त्रुटि सुधारने का अधिकार समाज के अन्य लोगों का है यह बात कोई तार्किक भी अस्वीकार नहीं कर सकता। समाज को स्वस्थ बनाए रखने के लिए इस अधिकार की स्वीकृति अपरिहार्य है। अतः स ंशोधनमूलक व्यवस्था न्याय के अनुपूरक रूप में आवश्यक मालूम पड़ती है। इसमें चण्डनीति-दण्डनीति, जन साधारण के ऊपर सरकार के दुर्दण्ड प्रताप या क्रोध दिखाने का कोई अवकाश ही नहीं। शासन व्यवस्था और संशोधनमूलक व्यवस्था का मूल भेद भी इसी में है। शासन व्यवस्था में सामाजिक या राष्ट्रीय संरचना को मजबूत बनाए रखने के लिए जिस कठोरता की आवश्यकता है, न्याय के क्षेत्र में उस कठोरता की

आवश्यकता नहीं ही है; अपितु इसके पीछे एक कल्याणमूलक कोमल मानवीय चिन्ताधारा का मधुर स्पर्श है। इसीलिए शासन व्यवस्था के साथ न्याय-व्यवस्था अनेक विषयों में एक मत होकर नहीं चल सकती। न्यायाधीश अनेक बार शासन कठोरता का अपनी युक्ति, मानवीय युक्ति से अवैध घोषित कर सकते हैं और राष्ट्र व्यवस्था में उस प्रसंग में शासन के व्यवस्थापकों की राय से न्यायाधीश की राय ही श्रेष्ठ समझी जाएगी। यदि ऐसा न हो, या जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ समझना होगा कि राष्ट्र में किसी व्यक्ति या दल विशेष का स्वेच्छाचार चलता है।

मनुष्य अपनी बौद्धिक सामर्थ्य से मनुध्य के गुणदोषों का विचार करता है; और उसकी इस चेष्टा को अन्याय नहीं कह सकता कमसे कम जब तक वह

कल्याणमूलक आदर्श को सामने रख कर अग्रसर होता है। अतः मनुष्य का न्याय मनुध्य ही करे; पर न्याय व्यवस्था का अन्तिम भाग अर्थात् दण्ड व्यवस्था कहाँ तक मनुष्य के अधिकार की सीमा में है यह विवाद का विषय रहा है। यदि किसी का न्याय किया जाए एवं तदनुसार यदि कोई व्यवस्था न ली जाए तो जिसका न्याय किया जाता है उस न्याय की त्रुटियों का बोझ नहीं ढोना पड़ता। किन्तु यहाँ न्याय के सिद्धान्त के अनुरूप दण्डमूलक व्यवस्था ली जाती है वहाँ न्याय में त्रुटि रह जाने पर निरीह मनुष्य को कष्ट भोगना पड़ता है, अर्थात् न्याय के अनुसार किसी को दण्ड देने का अर्थ है एक Risk लेना। कोई भी न्याय करने वाला बलपूर्वक यह नहीं कह सकता कि अमुक आदमी सचमुच अपराधो है और दूसरा सचमुच निरपराधी। उसे साक्ष्य प्रमाण आदि पर निर्भर होकर विचार देना पड़ता है; वकील के

सवाल जवाब पर निर्भर होकर न्याय करना पड़ता है। और इन के साक्ष्य प्रमाणों की सत्यता परीक्षा का कोई मार्ग नहीं। अभिज्ञ वकील के वाक्य विन्यास के जाल में अनेक रोहू कातला न्यायपतियों को नेस्तनाबूद होकर अन्त में वकील साहब का जयजयकार घोषित करन। पड़ता है। और ये अभिज्ञ वकील यदि अवकाश प्राप्त जज हों तब तो क्या कहना ? जो जज कभी इनके अधीन काम कर चुके हैं बाद में इन वकील साहब को युक्ति या तथ्य प्रमाणादि को अधिकतर अस्वीकार नहीं कर पाते अर्थात् इस श्रेणी के वकील जज के ऊपर अपना व्यक्तिगत प्रभाव भी डालते है। बहुतेरे प्राग्रसर देशों में ऐसे अवकाश प्राप्त जजों को आजकाल कानून के पेशे से वञ्चित कर दिया गया है। यह अच्छी व्यवस्था है, और इससे जन साधारण के लिए न्याय पाने को संभावना कुछ बढ़ी है, पर इस व्यवस्था में भी

न्याय ही मिलेगा ऐसी बात निश्चय पूर्वक नहीं कही जा सकती जाँच करना तथा वकील के वाग्जाल का कुहासा भेद न करना कुछ ही जजों के लिए सम्भव हो सकता है।

साक्ष्य प्रमाण की सचाई निश्चित करने के लिए जजों को व्यापक रूश से गुप्तचर विभाग की सहायता लेनी होगी। अतः गुप्तचर विभाग का कार्यभार बढ़ जाने के कारण गुप्तचरों की संख्या भी बढ़ानी पड़ सकती है। पर गुप्तचरों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि जिस सरसों से भूत भगाया जाता है यदि उसी सरसों में भूत घुसा हो तो भूत झाड़ना असम्भव हो जाता है। मतलब यह है कि पुलिस-जासूस फरियादी या अरोपी से घूस लेकर परेशान कर सकते हैं। किसी भी राष्ट्र के

लिए पुलिस जासूसों की पर्याप्त आवश्यकता है अतः पूर्ण योग्य व्यक्ति यथेष्ट सख्या में संग्रह करना किसी भी सरकार के लिए प्रायः असम्भव है। इस प्रकार लगता है कि पुलिस जासूसों के द्‌वारा निर्धारित साक्ष्य प्रमाणादि की सत्यता की भी जजों को जाँच कर लेनी होगी। तब प्रत्येक स्थान पर जज-स्वंय जाँच न कर ज्यूरी के द्‌वारा भी जाँच करा ले सकते हैं। इससे ज्यूरी प्रथा की सार्थकता भी समझी जा सकती है। व्यक्ति विशेष की विद्‌या या पदमयंदा न देख कर केवल उसकी साधुता की बात विचार कर ज्युरी निर्वाचन होना चाहिए

न्याय का सर्वाधिक उत्तरदायित्व जज के ऊपर रहना चाहिए ज्यूरी पर नहीं और इसीलिए विशेष रूप से ऐसे ही लोगों में से जज चुना जाना चाहिए जिनकी चारित्रिक दृढ़ता सन्देह से परे हो। पुलिस वा जासूस विभाग के

कर्मचारियों की संख्या से स्वभावतः जजों की संख्या कम है और वेतन भो ज्यादा है अतः उपयुक्त चेष्टा करने पर आवश्यकतानुरूप योग्य जज ढूँढना किसी भी देश में असम्भव नहीं है। जूरी चुनने का काम स्थानीय स्वायत्त शासन व्यवस्थाओं के ऊपर छोड़ देना चाहिए एवं व्यवसायी, दलाल और राजनैतिक नेता या कर्मचारियों में से किसी को ज्यूरी बनने का अवसर न देना ही अच्छा है। जज को सर्वत्र ज्यूरी के साथ एकमत होना कोई आवश्यक नहीं; क्योंकि इससे जज का अधिकार संकुचित हो जाता है। इसके अतिरिक्त जूरी कितने भी धार्मिक या सत्प्रवृति के क्यों न हो वे तीक्ष्ण बुद्धि विचारक भी होंगे, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। फिर किसी घटना के सम्बन्ध में सरजमीन पर खोज कर जज और जूरी अलग-अलग सिद्धान्त पर पहुंच सकते है और वहां जज के सिद्धान्त को अधिक

मूल्यवान समझना गलत नहीं होगा। पद ऐसा भो हो सकता है कि जज पक्षपात का दोषी हो या व्यक्तिगत आक्रोश उसके पीछे क.म कर रहा हो, या आसामी के कुकर्म में छिपे रूप से उसका भी हाथ रहा हो। इसका प्रतिविधान कहाँ अतः ऐसा लगता है कि यदि ज्यूरी को जज के चरित्र के सम्वन्ध में सन्देह हो या वे जज की राय से असन्तुष्ट हों तो वह राय प्रकाश्यरूप से घोषित होने के पहले ही सम्पूर्ण घटना न्यायविभाग के ऊपर के अधिकारियों के कान में डाल देनी चाहिए । यदि ऊपर के अधिकारी भी ज्यूरी के मत का समर्थन करें तो उस बीच के जज को अपने पद पर बहाल रखना हरगिज उचित नहीं होगा।

मैं मध्ययुग के काजी के न्याय का ठीक समर्थन तो नहीं करता; पर जैसे काजी खुद व्यक्तिगत दायित्व लेकर एवं आग्रह पूर्वक वेश बदल कर घटनास्थल पर जाकर सच्चाई की खोज करते थे या चतुराई से फरियादी या आसामी के मुखसे सच्ची बात निकाल लेने की चेष्टा करते थे। आज के जजों को भी वैसा करना चाहिए। इससे उनका दायित्व भी बढ़ेगा और संमव है उनकी संख्या और वेतन दोनों ही बढ़ाना आवश्यक हो। अपनी अभिज्ञता से लब्ध प्रमाणों के आधार पर जज न्याय कर सकें इसके लिए उसके अधिकार बढ़ाना भी आवश्यक हो सकता है।

फिर भी कहूँगा कि ठीक न्याय पाने की कैसी भी व्यवस्था क्यों न की जाए पर वह सोलह आना ठीक ही

होगा ऐसी आशा नहीं की जा सकती। ज्यूरी की भी भूल हो सकती है, दोनों की मिल कर भी भूल हो सकती है। क्षणिक आवेग या उत्तेजना में उनमें से दोनों पक्ष अन्याय को प्रश्रय दे सकते हैं अतः कभी भी कोई न्याय-सिद्धान्त चरम-सिद्धांत नहीं मान लिया जा सकता। और ठीक इसी कारण बाध्य होकर कहना पड़ेगा कि जिस सिद्धान्त में भ्रान्ति का जरा भो सन्देह हो उस पर निर्भर हो कर दण्ड नहीं दिया जा सकता ।

नीति की दृष्टि से भी देखें तो समाज की पवित्रता की रक्षा के लिए मनुष्य-मनुष्य के सम्बन्ध में संशोधन की व्यवस्था लेने का अधिकारी तो है पर दण्ड व्यवस्था का नहीं। जिस विधान से मनुष्य के अस्तित्व का प्रत्येक स्पन्दन नियन्त्रित होता है केवल उसी विधान

को मनुष्य को दण्ड देने का अधिकार है और किसी को नहीं। तोभी मनुष्य यदि अपने न्याय को बलपूर्वक त्रुटियुक्त घोषित कर सकता अथवा अपनी दण्ड व्यवस्था को अधिकारानुरूप में प्रमाणित कर सकता तब भी एक बात होती किन्तु वह भी तो मनुष्य कर नहीं पाता ! अतः समाज रक्षा के लिए यदि कोई मनुष्य किसी के बिरुद्ध कोई व्यवस्था लेना चाहता है तो वह संशोधनमूलक होना चाहिए दण्डमूलक नहीं। विचार पद्धति यदि त्रुटिपूर्ण भी हो तो भो संशोधनमूलक व्यवस्था से किसी की क्षति की सम्भावना नहीं रहेगी ।

न्याय या संशोधन मूलक व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार करने के पहले न्यायकर्ता का Standard (मान) ठीक रखने की दिशा में भी देखना होगा। जिसे मनुष्य

के दण्ड मुण्ड के अधिकारी बना कर न्यायकर्ता के आसन पर विठाया गया है उस की विवेचन बुद्धि तथा नैतिक चरित्र अमलिन है कि नहीं इस ओर कड़ी नजर रखनी होगी और आवश्यक हो तो बीच बीच में न्यायकर्त्ता के स्वभाव के सम्बन्ध में जन-प्रतिनिधित्वमूलक संस्थाओं से रिपोर्ट लेकर भेजनी होगी। न्यायकर्ता स्वयं शराबी या दुश्चरित्र हो या किसी प्रकार के समाजविरोधी काम में लिप्त हो तो उसे किसी दूसरे के दोषों का न्याय करने का अधिकार किसी भी प्रकार नहीं हो सकता । न्याय-कर्ता के Standard पर इतना जोर देने का कारण है न्याय एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें कानून की धाराओं की व्यवस्था से अधिक स्थान काल पात्रगत विवेचना हो महत्वपूर्ण है (अपराध) संहिता (Criminal Code) के साथ नैतिक संहिता (Moral Code) का विरोध हो तो अन्त में नैतिक संहिता की

प्रतिष्ठा का ही मार्ग चुनना होगा। न्याय करने के लिए बैठकर जिस किसी को भी अपराधी नहीं समझ लेना है, सचमुच उससे कोई अपराधमूलक काम हुआ कि नहीं और यदि हुआ हो तो किस दशा में वह उस काम में प्रवृत्त हुआ या यह काम उसने स्वगत भाव से किया परगत भाव से दूसरे के इशारे पर किया-इसी का विवेचन मुख्य है। इस गुरुतर विवेचन का भार समाज ने जिसे सौंप दिया है उसे निश्चय ही साधारण मनुष्य से ऊंचे स्तर का मनुष्य होना चाहिए। विश्वविद्यालय के कानून विभाग का मेधावी छात्र होने से ही कोई अच्छा न्यायकर्ता भी होगा यह बात किसी तरह भी नहीं मानी जा सकती। अच्छे वकील या बैरिस्टर का कानूनी ज्ञान या वाक पटुता जरूर माननी पड़ेगी किन्तु वे अच्छे न्यायविचारक भी हो सकेंगे इसका प्रमाण इससे नहीं मिलता । न्याय विचार के उदाहरण व्यक्तिगत या

सामाजिक जीवन की छोटे बड़े अजस्र घटनाओं के बीच मिलते है। अपराधी का विचार करने बैठ कर उसने क्यों वह अपराध किया पहले यही बात सोचनी होगी। अपराधी का गुण दोष तथा स्वेच्छा से या अन्य की इच्छा से अनुष्ठित कार्यों का यथायथ रूप से विश्लेशण कर देखने पर हम लोग अपराधियो को निम्नलिखित कई विभागों में बाँट सकते है :-

स्वभावगत- अपराध

जन्मगत कारणों से कुछ स्त्री-पुरुषों में एक प्रकार की मानसिक विकृति रहती है । इनकी इस विकृति का कारण इनकी देह के ग्रन्थिसमूह की विकृति में ही निहित रहता है। ग्रन्थियों की विकृति के अनुसार ये मूलतः दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं :-

(क) एक वर्ग के लोग स्वभाव से खूब शान्त होते है; किन्तु सच बोलना या दूसरों का उपकार करना इनके स्वभाव के विरुद्ध होता है। सत्य का अपलाप या दूसरों को क्षति पहुँचाने में उन्हें पैशाचिक आनन्द मिलता है। साधारणतः लौकिक जगत् में ये बहुत कुछ जड़ बुद्धि होते है। अच्छी बात हो या बुरी, इनके लिए कुछ भी ग्रहण करना सामर्थ्य के बाहर होता है। ये अपनी छोटी बद्धि से जितना समझते है, उसी प्रकार काम करते चलते हैं। साधारणतः ये एक प्रकार के ऊनमानस होते है, किन्तु स्वाभाविक शुचिता के कारण ऊनमानस मनुष्य समाज की जो कृपा या अनुकम्पा पाते है, उससे ये वञ्चित रह जाते है। ये देर से चलना सीखते हैं, देर से बोलना सीखते है; सीधी बात समझने में भी इन्हे

काफी समय लगता है, अधिक उम्र तक इनके मुख से लार गिरती रहती है। अभिभावकों और शिक्षकों की आन्तरिक

चेष्टा करने पर भी ये पढ़ लिख नहीं पाते। प्राप्तवयस्क होने के पहले ही ये अपनी आन्तरिक वृत्ति का सामाजिक जीवन में स्फुरण प्रकट करने लगते है। ये साधारणतः छोटे चोर होते है-डकैत नहीं। दुश्चरित्र होते है; पर प्रत्यक्ष रूप से समाज-विरोधो काम करने का साहस इनमें नहीं होता। ये स्वेच्छा से या परेच्छा से दोनों तरह से पाप कर्म में लिप्त होते हैं।

(ख) दूसरे प्रकार के जन्म-अपराधी और भी भयंकर होते हैं। इन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कारण-अकारण क्रूरता दिखाते रहना ही पसन्द होता है। मार-काट, खून-खराबी करना इनके लिए सहज स्वाभाविक काम है।

चोरों या डकैतों के दल में नर-हत्या या और कोई भयङ्कर काम इन्हीं लोगों के जिम्मे रहता है। साधारण पाकेटमार या अदना चोर या सेंध मारनेवाले चोर का काम ये नहीं करना चाहते । ये सब इनके लिए बहुत छोटे अकुलोन चोर के काम मालूम होते हैं। अपराधी समाज में ये साधारणतः खानदानी अपराधी गिने जाते हैं। इनकी चिन्ताधारा या चालचलन से ऐसा लगता है, मानो ये अपराध करने के लिए ही पैदा हुए है। दया, ममता, विवेक, बुद्धि इनके लिए दुर्बलता छोड़कर और कुछ नहीं। चीजों को समझ ही नहीं सकते। संसार के अनेक क्षेत्रों में असल में ये लोग इन इनकी बुद्धि एकदम भोथो होने पर भी ये बुद्ध नहीं होते। अपने स्वभाव के अनुरूप अपराध करने के समय ये अच्छी-खासी बुद्धिमत्ता दिखाते हैं। मनुष्य के अस्थि-संस्थान की विद्या कुछ-कुछ मनोविज्ञान एवं पुलिस और

जनसाधारण के पास मनस्तात्त्विक अभिनय करने में ये बड़े दक्ष होते हैं। अच्छे परिवेश में जन्म लेने पर भी इस प्रकार के जन्म-अपराधी अन्त में अपराध करने का रास्ता खोज ही लेते हैं और इस वर्ग की स्त्रियाँ सत्पात्र के साथ विवाहिता होने पर भी सत जीवन यापन करने में समर्थ नहीं होती- वे अपनी इच्छा से पतितावृत्ति चुन लेती हैं।

जन्म अपराधी के स्वभाव और जीवनधारा जैसे विचित्र होते हैं; वैसे ही इनके अपराधों के अजस्र भेद हैं। कोई साधु का अभिनय कर छिप कर चोरी डकैती करता है, कोई जालसाजी या डकैती कर प्रचुर धन-उपार्जन कर दरिद्रों में दान खैरात कर देता है; कोई चोरों के दल की दलाली करना ही पसन्द करता है। ऐसे जन्म-अपराधी भी हैं जो केवल सुख पाने के लिए ही अपराध करते हैं-

संभव है इससे उनको कोई व्यक्तिगत आर्थोपार्जन की सुअवसर न मिले इतना ही नहीं ऐसा अवसर मिलने पर भी वे ऐसे अवसर से लाभ न उठावें | जन्म अपराधियों के स्वभाव, जीवन-अणाली तथा विशेष विशेष प्रकार के अपराधों के प्रति आसक्ति इनमें से कोई भो बुणाक्षर न्याय से नहीं होता; बल्कि लगता है सुनिश्चित क्रम से ये सब घटित होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इस विषय में खोजकर वहुत कुछ जाना है, बहुत कुछ जानने की चेष्टा की है। संश्लिष्ट राष्ट्रों का विशेष कर पुलिस विभाग का सक्रिय सहयोग मिले; तो ये लोग अपराधियों के मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की खोज में और भी सफलता पा सकते हैं। अपराधियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना यहाँ अभिष्ट नहीं है; पर यह कहना बिल्कुल सही हैं कि इस प्रकार के जन्म अपराधी समाज के लिए सबसे बड़े बोझ हैं सबसे बड़े ऋण है। ये अपराधी पृथ्वो पर मनुष्य

की देह लेकर तो आते हैं; पर मन से ये मनुष्येतर जीव होते है। इतना ही नहीं, इनका शरीर गठन भी साधारण मनुध्य से भिन्न होता है। बौद्धिक विकाश के फलस्वरूप मनुष्य को जो मधुर पारिवारिक परिवेश हाथ आया है और अपने स्वभाव के गुण से जिस परिवेश को वह मधुर से मधुरतर बना लेता है, वही इनके लिए उल्टा सिद्ध होता है। मधुर परिवेश पाकर भी ये उसे ठीक तौर से अपना नहीं पाते। अपनी विकृत मानसिकता की परितृप्ति के लिए ये कभी-कभी तो अपने स्नेहशील पिता को भी गलत समझ कर जहर देकर मार डालते हैं, स्नेहशीला माँ की छाती पर निर्मम छुरी चला देते हैं। अतः मनुध्य स्वभाव के स्वाभविक लक्षणों की दृष्टि से विचार करने पर इन्हें ठीक मनुध्य कहना उचित नहीं मालूम होता। प्रकृति भी मनुष्य को जो सुविधा असुविधा देती है; इनके विषय में उलट फेर कर देती है। ये बहुतेरे

प्राकृतिक तत्त्वों को अत्यन्त बुद्धिमान एवं चतुर लोगों की अपेक्षा भी अधिक सहज रूप से समझ लेते हैं। अनेक विषयों में भविष्य की बात जान लेने की क्षमता की अपेक्षा मनुष्येतर जीवों में ज्यादा होती है। इनमें भी वह क्षमता देखो जाती है। मनोवैज्ञानिकों ने इनकी मनोवैज्ञानिक समीक्षा-निरीक्षा करके बहुत कुछ पाया है; किन्तु इनके स्वभाव संशोधन के लिए कोई उपयुक्त शरीर-विज्ञान या मनोविज्ञान सम्बन्धी चिकित्सा आज तक नहीं निकली है। मनोवैज्ञानिक या शरीर-वैज्ञानिक नहीं तो समझते हैं कि इनमें कहाँ त्रुटि या विकृति है, वैसे वह विकृति दूर हो सकती है यह भी जानते हैं; किन्तु कार्य क्षेत्र में इन विकृत्तियों को हटाना ही कष्ट साध्य हो जाता है। कोई भी राष्ट्र इन अभागों की व्याधि दूर करने के लिए आग्रहशील होना नहीं चाहता - ये पशुओं के समान जोते हैं, पशुओं के समान ही

अकारण पापाचार में लिप्त रहते हैं और पशुओं के समान ही अपना सस्ता जीवन फाँसी के तख्ते पर झुला देते हैं।

"सिर के बदले सिर" इन्साफ के इस सिद्धान्त को अभ्रान्त मान लेने पर तो और कुछ कहा नहीं जा सकता। फिर भी लगता है कि जन्म अपराधी अपनी शारीरिक या मानसिक विकृति के कारण जो अपराध करते है, तथाकथित सुसभ्य लोग उनका रोग दूर करने का उपाय न कर ठीक उसी प्रकार का अपराध करते हैं। क्या यह सिर दर्द हटाने के लिए सिर को काट फेंकने की सलाह जैसो नहीं है? किसी रोगी का रोग दूर नहीं होता हो, तो उसे प्राण-दण्ड देने जैसा ही अपराध- मेरे मत से-इस श्रेणी के जन्म-अपराधी की हत्या करना है।

सुसभ्य जन-समाज का कत्र्तव्य है उनके रोग को दूर करने का उपाय करना। उनकी हत्या करके उनके जीवन का बोझ हल्का करना और चाहे जो भी हो सुसभ्यता का लक्षण नहीं है। इसलिए मुझे लगता है कि इस श्रेणी के जन्म-अपराधियों के केवल अपराध की मात्रा देखकर न्याय करना उचित नहीं है। मनुध्योचित हृदयवत्ता के साथ अपराधी को देखना होगा एवं उनकी व्याधि दूर करने का मार्ग-निर्देश करना होगा ।

संक्रामक व्याधि से पीड़ित रोगी को चिकित्सक स्वस्थ लोगों की भीड़ से अलग रखना चाहता है; नहीं तो उसका विष स्वस्थ देह में संक्रामित हो सकता है। इसी प्रकार के जन्म-अपराधियों को तथा सब तरह के अपराधियों को अन्य लोगों से हटाकर कुछ दूर अलग ही रखना चाहिए। उनकी चिकित्सा कारागार में या अच्छी

भाषा में कहा जाए संशोधनागार में होनी चाहिए। कारागार उनके दण्ड के लिए नहीं, रोग मुक्ति के लिए अस्पताल है। जन्म-अपराधी जिस मानसिक रोग से पीड़ित है, उसकी चिकित्सा केवल मनोवैज्ञानिकों के द्‌वारा सम्भव नहीं है बल्कि इसके लिए समाजतत्त्व-विद्‌ एवं चिकित्सकों के सहयोग की भी आवश्यकता है। मनोवैज्ञानिक मन की व्याधि दिखावेंगे, वे व्याधि का कारण भी बता सकेंगे, मानसिक चिकित्सा के द्‌वारा जहाँ तक रोग दूर हो सकता है वहाँ तक स्वयं कर भी देंगे। उसके बाद चिकित्सक का काम आता है। देह यन्त्र की जिस विकलता के कारण कोई व्याधि उत्पन्न हुई है, उस त्रुटि को डाक्टर दवा या चीरफाड़ के द्‌वारा ठीक कर देंगे। उसके बाद समाज तत्त्वविदों का काम पड़ेगा। समाजतत्वविद्‌ इस प्रकार के रोगमुक्त अपराधियों को समाज में फिर से बसाने की व्यवस्था कर देंगे। यदि

मनोवैज्ञानिक केवल दोष दिखला कर ही बैठ जाय, चिकित्सक यदि अपराधी के देहयन्त्र की त्रुटि, विकलता ही बता दें तो उससे लाभ क्या? आज के युग में तो मनोवैज्ञानिक, चिकित्सक और समाज-तत्त्ववेत्ताओं की मिलीजुली कोशिश से भी, संभव है, रोगी को आशानुरूप फल न मिले; क्योकि आज भी मनोविज्ञान अनुन्नत अवस्था में ही है। जिन शारीरिक विकृतियों के कारण मानसिक विकृति दीख पड़ती है, उन्हें दूर करने का सामर्थ्य अभी तक शरीर-विज्ञान-वेत्ताओं को यथायथ रूप से नहीं प्राप्त हुई है। और समाज विज्ञान ? - वह तो सबका चौकठ तोड़ कर घुसने की व्यवस्था में अत्यंत द्विधा विजड़ित पदविक्षेप कर रहा है। फिर भी इन जन्म-अपराधियों के लिए ऐसी ही व्यवस्था करनी पड़ेगी। जब तक इनके लिए इस प्रकार की मनुष्योचित व्यवस्था नहीं की जाती ; तब तक इन्हें कचहरी के

कठघरे में खड़ा कर इनका प्रहसन करने का कोई कारण नहीं। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि ये रोगी हैं और इनका रोग जवर्दस्त है। तब आध्यात्मिक साधना के द्वारा यह रोग थोड़े दिनों में और यौगिक प्रक्रिया से उससे कुछ ज्याद। दिनों में छूट सकता है। पर उसके लिए भी उपयुक्त परिवेश की आवश्यकता है। इस लिए जेलखाने के परिवेश को और भी पवित्र, और मानवोचित बनाने की आवश्यकता है।

२- अभ्यासगत अपराधी

जहाँ नंतिक दृढ़ता की कमी है जहाँ मानसिक शक्ति को जाग्रत करने की कोई कोशिश नहीं हुई है या जहाँ सामाजिक शासन बहुत ढीला है वहां आदमी की रिपुगत वृत्तियां वेलगाम रहती हैं एवं उनके स्वेच्छाचार के लिए

राह खोजने में आदमी को किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। साधारण मनुष्य अपनी वृत्तियों को नैतिकता की युक्ति से समझा बुझा कर शान्त कर लेता है और इस प्रकार अपने को समाज-विरोधी कामों से बचा लेता है। जिसमें मानसिक बल कम रहता है वह नैतिकता बोध रहने पर भी कई बार जानबूझ कर मानों यन्त्र की तरह समाजविरोधो कामों में लिप्त हो जाता है। जिसमें नैतिकता बोध रहता है वह समाज के भय से चित्त की क्षणिक चञ्चलता को शान्त या दमित रखता है फलतः समाज की स्थिति एवं व्यक्ति जीवन की शुचिता ठीक बनी रहती है। किन्तु कुपथ पर कदम बढ़ाने के लिए इन तीन बाधाओं में से किसी एक के भी कमजोर पड़ने पर आदमी दुष्कर्म कर बैठता है और बाधा का भय न रहने के कारण क्रमशः कुकर्म के प्रति उसकी अधिकारिक आसक्ति बढ़ती जाती है। इस प्रकार

समाजविरोधी काम करने का उसे अभ्यास हो जाता है, और समय पाकर वह बिल्कुल पक्का हो जाता है। ऐसे अपराधी जन्म से कोई रोग लेकर नहीं आते अतः इनकी चिकित्सा के लिए शरीरविज्ञान जानने बाले किसी डाक्टर का स्थान वहुत गौण है। उपयुक्त नीतिशिक्षा, मनोबल बढ़ाने की प्रक्रिया और कुछ कड़ा सामाजिक परिवेश रखने की व्यवस्था की जाय तो इनका रोग थोड़ी कोशिश से दूर किया जा सकता है। इसलिए इनका न्याय करने के समय न्यायपति को मानवोचित संवेदना की अपेक्षा कानून की धाराओं की तरफ अधिक ध्यान रखना चाहिए। इसी में समाज का कल्याण है। आदत के कारण चाहे ये कितने ही बड़े दुर्वृत्त क्यों न हों, चाहे इन्हें स्वाभाविक दुर्वृत्त हो क्यों न कहा जाए फिर मी जन्म अपराधियों की तरह भयानक स्वभाव के गे कभी हो ही नहीं सकते । थोड़ी बहुत बुद्धि इनमें हमेशा रहती ही है

और इसीलिए इन्हें व्याधिग्रस्त समझकर क्षमा की दृष्टि से देखने से काम नहीं चलेगा। ये साधुता का ढोंग करना भी जानते हैं। ये दिन में साधु बन जाते और रात में चोरी करते है। दिन में जमीन्दार हैं तो रात में डकैती करते हैं, प्रकट रूप से सतीसाध्वी मालूम होती हैं और छिपे-छिपे पतिता वृत्ति करती है। अपराध की मात्रा के ख्याल से शायद ये लोग ही सबसे बड़े अपराधी है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा और जेलखाना के कड़े शासन से इनके स्वभाव संशोधन में पूरी सहायता मिलेगी (यदि यहाँ परिवेशगत शुचिता हो)। परन्तु किसी पर नीतिशिक्षा के बिना या मनोवल बढ़ाने की कोई प्रक्रिया सिखाये बिना खूब कड़ा शासन लाद देने से अनेक समय परोक्ष से इस वर्ग के अपराधी बन जाते हैं। जो मातापिता अपनी संतान को नीतिशिक्षा नहीं देते, सत् जीवन व्यतीत करने के लिए उपयुक्त मनोबल प्राप्त

करने में मदद नहीं करते उल्टे कारण अकारण छड़ी फटकारते रहते हैं उनकी सन्तान बाद में समाजविरोधी कामों में ही लिप्त होती हैं। जो अभिभावक अपनी कन्या को असत् पथ में जाने के डर से लिखना पढ़ना नहीं सिखाते, नीतिशिक्षा नहीं देते, सामने ऊंचा आदर्श प्रतिष्ठित कर मनोबल प्राप्त करने में सहायता नहीं करते, वे यदि जबर्दस्ती विधवा या अनूढ़ा कन्या को पर्दे में रखने की कोशिश करते हैं तो उनमें पर्दा हटा कर छिप छिप कर दुनियाँ को देखने का आग्रह जगता है और फलतः ऊपर से संसार को दिखाने के लिए तो वे शुचिता का ढोंग करती हैं पर लुकछिप कर पापाचार में लिप्त होती हैं। इतना ही क्यों बहुतेरो तो शासन की दीवार को लाँघ कर खुल्लमखुल्ला समाज-विरोधी काम में लिप्त होती हैं।

इस वर्ग के अभ्यासगत अपराधियों को आध्यात्मिकता के मार्ग पर लाना बहुत मुश्किल है पर मनोवैज्ञानिक आवेदन के द्‌वारा यह बिल्कुल असम्भव नहीं है। ये अधिकतर बुद्‌धिमान होते हैं, अपने क्षुद्र स्वार्थ के कारण ये समाजद्रोह या राष्ट्रद्रोह करते हैं; एक बड़ा भाग अपनी स्वार्थसिद्‌धि के लिए राजनैतिक नेता बनकर जनसाधारण को ठगता है। प्रायः संसार के अधिकांश बड़े बड़े युद्‌ध इसी वर्ग के अपराधियों ने ठाने हैं। अपराधियों के बीच जिनकी बड़ी प्रतिष्ठा होती है वे इसी वर्ग की ऊपज हैं। अस्वस्थ जनसमाज कभी तो इन्हें अपने जाल में फंसा लेता है और कभी ये उनका जाल चीरकर निकल भागते है। इनका न्याय करने के लिए न केवल बुद्‌धिमत्ता चाहिए बल्कि साहस और सतर्कता भी उतना ही आवश्यक हैं। बड़े बड़े चोरबाजारी और मिलावट करके वेचनेवाले भी इसी वर्ग के

सूचो-पत्र

अपराधियों के प्रतिनिधि हैं। बहुत बार तो ये लोग जजों की रवाधीनतता में भी हस्तक्षेप करना चाहते है, जज के आसन को देखकर पःपकी जय जयकार मनाना चाहते हैं। इनको वश में करने के लिए ही जजो के हाथ में खूब ताकत होनी चाहिए ।

३- परिवेशगत अपराधी

संसार में ऐसे भी वहुत लोग हैं जो देहगत या जन्मगत कारणों से अपराधप्रवण नहीं होते, न तो वृत्तियों की प्रेरणा से, न शिक्षा की कभी से न सामाजिक शासन की ही कमी से अपराध करते है, बहुत संभव है यदि उन्हें उचित परिवेश मिल पाता तो वे सच्चरित्रता का आदर्श समझ जाते पर उसके अभाव में वे अपराधी समझे जाते हैं और समाज उन्हें धिक्कार करता है।

परिवेश के प्रभाव से सज्जन व्यक्ति भी कैसे बुरे हो सकते हैं- ये वास्तव में इसीके ज्वलन्त उदाहरण हैं। शान्त एवं अच्छे शीलवन्त पुत्र को अपने स्वभाव दुवृत्त पिता के नियंत्रण के डर से समाजविरोधी काम करते करते क्रमशः उसका स्वभाव ही वैसा बन जाता है। पतिता स्त्री की कन्या यदि सौ बार चाहे कि वह अच्छा जीवन व्यतीत करे तोभी मां एवं परिवेश के दबाव में पड़कर अकथनीय निर्यातन सहने में असमर्थ होकर समाज से च्युत बहिर्भूत जीवन व्यतीत करने को वाध्य हो जाती है। इनके इस असहाय जीवन के लिए हमलोग आपातदृष्टि से इनके असत् माँ बाप या अभिभावक को ही दोष देते हैं पर वे इनके लिए हमेशा सोलह आना दोषी नहीं है क्योंकि बहुत बार तो उस पर भी ऐसे-ऐसे दबाब रहते है जैसे-ऐसा आर्थिक दबाब रह सकता है, अभाव के कारण ऐसा जानते हुए भी कि वे अन्याय कर

रहे है उन्हें खुद अन्याय करना पड़ता है ओर अपनी सन्तान के अन्याय को बढ़ावा देना पड़ता है, निर्यातन करके भी उन्हें अन्याय करने के लिए प्रवृत्त करना पड़ता है।

किसी-किसी वस्तुह।रा को समाजविरोधी भावों में लिप्त देखकर जो लोग उनको निन्दा करने में कुछ उठा नहीं रखते वे यदि गहराई से देखें तो उन्हें अधिकांश उदाहरणों में मालूम होगा कि रुपये पैसे की कभी से ही वे लोग अपनो सन्तान को समाजबिरोधी कामों के लिए बढ़ावा देते है। परन्तु अर्थाभाव ही इसका एकमात्र कारण नहीं। माँ बाप या अभिभावक यदि स्वभाव से दुवृत्त हों तो वे अपनी व्याधि घर के दूसरों लोगों में भी संक्रमित कर देना चाहते है। कुछ दिन पहले एक समाचार पत्र में

एक घटना पढ़ी थी। सम्भ्रान्त परिवार की एक महिला अपनी एक सन्तान को सिनेमा जाने के लिए पैसे देने का लालच दिखाकर पड़ोसी के घर से कपड़ालत्ता चुराने को उकसाती थी अर्थात् परोक्ष रूप से दबाव देती थी। बात खुलने पर जब खोज की गई तो मालूम हुआ कि उसके घर में रुपये पसे का विल्कुल अभाव नहीं था । बल्कि वह महिला अपनी मानसिक व्याधि को परिवेशगत दबाव निर्माण करके अपनी सन्तान में संक्रमित कर रही थी। वहुतेरे अभिभावक अपनी कंजूसी के कारण या और किसी कारण अपनी सन्तान को तो खाने पीने की अच्छी चीजें नहीं देते हैं (न देने के लिए यदि कोई युक्ति भी हो तो उन्हें वह बताते नहीं। और उनके सामने ही दूसरों का उन्हीं चीजों से सत्कार करते हैं। इसका फल होता है- उनकी सन्तान अपनी स्वाभाविक भोगेच्छा की तृप्ति के लिए बहुत कुछ

परिस्थिति के दबाव में पड़कर चोरी करना शुरू कर देती है। ऐसे भो बहुत लोग मिलेंगे जो अपने अर्थात् परिवार के लोग तो अच्छा खाते पीते हैं और नौकर के लिए मामूली खाना या खराब खाना देते हैं उनके नौकर भी लालच में पड़कर चोरी विद्या में पक्के हो जाते हैं। ऐसे अभिभावक भी मिले हैं जो प्रत्यक्षरूप से अपनी सन्तान को मारपीट या गाली गलौज के लिए बढ़ावा देते हैं। कई बार तो स्वभाव से शान्त लड़के लड़कियाँ अपने माँ बाप के हाँ में हाँ मिलाने को तैयार नहीं होते पर आखिर मान के डर से उन्हें उनका कहना मानना पड़ता है। गाँवों में तो ऐसा भी देखने का मिलेगा कि दायभाग से शासित समाज का युवक सम्पत्ति खोने के डर से अपने निष्ठुर अभिभावक के कहने के कारण अपनी निरीह पत्नी पर अकथनीय अत्याचार करता है। ये सब परिवेश के कारण होने बाले अपराधों के उदाहरण है।

खास वातावरण के कारण जो अपराधी हो गये हैं उनमें से जो स्वभावगत अपराधी नहीं बन गए हैं उनका न्याय करने के समय कानून की धारा को प्रधानता देने से काम नहीं चलेगा। उपयुक्त विवरण जानकर ज्योंही मालूम हो कि अमुक-अमुक कारणों से या अमुक व्यक्ति के दबाव से अपराधी (वह किसी भी उम्र का क्यों न हो) समाजविरोधी काम में लिप्त हुआ था- न्याय-पति को चाहिए कि वह समाज विज्ञान एवं मनोविज्ञानवेत्ताओं की सहायता से इन अपराधियों को उस वातावरण से मुक्त करें । इनके लिए संशोधनमूलक किसी और वड़ी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । किन्तु वातावरण के कारण अपराध करने वाला अपराधी यदि लम्बे अभ्यास के कारण स्वभावगत अपराधी हो गया हो तो वातावरण बदल देने मात्र से काम नहीं चलेगा; उसके

साथ कानून की धारा के अनुरूप संशोधनमूलक व्यवस्था लेना भी आवश्यक है।

जो मोटे तौर पर स्वस्थ शरीर और मन लेकर जन्मा है, जिसे समाज के शासन या नीति का भी ज्ञान है, जिसे परिस्थितियों के दबाव के कारण भी असाधु नहीं होना पड़ा है, उसे भी कई बार संगतिदोष के कारण बहुत कुछ अनजान से ही बुराई की राह पर कदम बढ़ाना पड़ता है। समाज में लगभग सैकड़े में नब्वे लोग ऐसे होंगे जो अपने बारे में कहते हैं कि जब में खुद अच्छा हू' तब कैसे भी लोगों के साथ मेलजोल क्यों न करू इसके बारे में किसी को सिरदर्द मोल लेने की जरूरत नहीं है। मैं किसी के पल्ले में पड़कर खराब नहीं होने का। भला बुरा समझने की मेरी उम्र हो गई है। यह

सब कहने का अर्थ यह है कि कोई इनको कुसंगति से बचाने की कोशिश करे यह बात भी इनको अच्छी नहीं लगती, ऐसा सोचने से भी इनके अहङ्कार को ठेस लगती है। खास करके यदि कोई थोड़ा पढ़ालिखा आदमी अपने से अधिक पढ़ेलिखे आदमी को कुसङ्गति से बचने की सलाह दे तो ऐसी हालत में इस प्रकार की मानसिक अभिव्यक्ति उत्कट रूप से दीख पड़ती है। समाज में पद मर्यादा, धन या विद्या में जो अपने को जिससे श्रेष्ठ समझा है वह साधारणत या उससे नीचे के स्तर के किसी आदमी से किसी तरह की सलाह को एकदम अवाञ्छनीय समझता है। यही कारण है कि उन्मार्गगामी शिक्षित पुत्र कई बार अपने माँ बाप की अच्छी सलाह पर कान नहीं देता। पर मानव मन का स्वाभाविक धर्म कुछ और ही कहता है। आदमी सात वर्ष का हो या सत्तर का उस पर सङ्गति का प्रभाव पड़ता ही है।

सूचो-पत्र

अर्थात् जहाँ सद्भाव की प्रबलता है वहाँ असत् मनोवृत्ति का आदमी भी धीरे धीरे सत्पुरुष होने को बाध्य हो जाता है और जहाँ असत् भाव की प्रबलता है वहाँ देवोपम चरित्र का आदमी भी कुछ दिन के घनिष्ठ मेलजोल से कुपथगामी होने को बाध्य हो जाता है। नहीं पीने वाला आदमी यदि कुछ दिन नियमितरूप से पियक्कड़ों से मेलजोल करे तो अपने बन्धुबान्धवों से न पीने वालों के बिरुद्ध रोज-रोज सुनते-सुनते एवं शराब का अद्भुत गुण जानते जानते उसके मन में भी एक दिन जरा चख कर देखने की इच्छा जगेगी ही। भाई बन्द भी कहेंगे- तुमको नशा करने के लिए नहीं कहते, जरा चख कर देखो न इससे तो कोई खराबी नहीं हो जायगी। देखते हैं तुम तो बड़े नीतिवादी हो। अरे भाई दुनिया में या इतना नीतिवादो बनने से काम चलता है ?' किन्तु यह चख कर देखना ही एक दिन काल बन

जाता है। उस दिन का वह निर्दोष आदमी जान भी नहीं पाता है कि उसी दिन से शराब ने उसे चखना शुरू कर दिया। ठीक इसी प्रकार आदमी दुश्चरित्रता, दूसरों की निन्दा करना, चोरी आदि अवगुण ग्रहण करता रहता है। जिन घरों की महिलाओं या पुरुषों को कामकाज कम रहता है, जिन्होंने जीवन में कोई ऊंचा आदर्श भी नहीं पाया है, जिनमें धार्मिक दृष्टि भी नहीं है या जिनको रोजी रोटी के लिए सिरतोड़ मेहनत नहीं करनी पड़ती है वे बहुत अधिक निन्दक होते है। और इनके साथ मेलजोल से उच्चआदर्शवादी या परिश्रम करने वाला आदमी भी धीरे-धीरे परनिन्दा के माध्यम से अपने दैनिक जीवन का सामान्य अवकाश व्यतीत करता है। जिस घर के माँ बाप या बड़े लोग झगड़ते रहते हैं, उस घर के छोटे बच्चे भी सङ्गदोष के फलस्वरूप कलहपरायण हो जाते हैं। जिस घर की स्त्रियाँ उठते

बैठते दूसरी की निन्दा करती है उस घर के छोटे बच्चे अवश्य परनिन्दक होते है क्योंकि बड़े इन बच्चों के जरिये ही परनिन्दा के उपकरण जमा करते हैं। बच्चे स्कूल-कालेजों में बड़ों के साथ अधिक मेलजोल करने से ही बातें बनाना सीख जाते हैं। किन्तु वे लोग अपने समाज में जहाँ तक सम्भव हो निर्दोष हँसी टठ्ठा में ही व्यस्त रहते हैं। साथी चुनने में इतनी सावधानी की जरूरत है कि अल्पवयस्क लोग उतना सावधान रह नहीं सकते। आदमी में जो दुष्प्रवृत्तियाँ सुप्त रहती हैं वे भी सङ्गदोष से आसानी से उद्दीप्त हो जाती है। फिर भी माँ बाप, टोले मुहल्ले के लोगों या पढ़े लिखे लोगों की मिलीजुली चेष्टा से अल्पवयस्क लोगों को असत्सङ्ग से बचाया जा सकता है। पर जहाँ घर के भीतर ही असत्सङ्ग घुसा हुआ है या मुहल्ले में आसपास भीड़ जमाए है वहाँ उन्हें उसके चंगुल से बचाना बहुत

मुश्किल है। व्यापक रूप से धर्मगत आदर्श तथा नीतिशिक्षा की व्यवस्था, साथ-साथ सतर्क पुलिस की व्यवस्था छोड़ कर इससे ववने का दूसरा उपाय नहीं। आज संसारभर में वृत्तियों को उद्दीप्त करने वाली तरह-तरह की फिल्में दिखाई जाती है जिनसे बालक बालिकाओं, किशोर किशोरियों या युवक युवतियों की मति भ्रान्त हो जाती है। सिनेमा के परदे पर जैसा अपराध या सस्ते प्रेम का अभिनय या दुःसाहसिकता भरा काम करते देखते हैं वैसा ही अपने व्यक्तिगत जीवन में उतारने की इच्छा उनमें जगती है। यह भी एक प्रकार के सङ्गदोष का ही उदाहरण है। पर्दे पर के चरित्रों को वे उस समय परिचित व्यक्तियों के रूप में ही पहचानते है पर बाद में उनकी भूमिका की नकल करते समय पता लगता है कि पर्दे की दुनिया से वास्तविकता की दुनिया बहुत कठोर हैं। जो अपने

अभिभावक खुद है यदि उनका घरेल बन्धन ढीला हो या यदि उनके सामने कोई ऊंचा आदर्श न हो तो उनको कुसंग से बचाना यदि असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। इस सङ्गदोष के फलस्वरूप जो अपराध में लिप्त होते हैं वे जब तक स्वभावगत अपराधियों में परिणत नहीं होते तब तक सङ्गति के प्रभाव से छुटकारा पाने के साथ साथ उनमें स्वभावगत पवित्रता भी आती है। अतः इस वर्ग के अपराधियों का न्याय करने के समय इनकी सङ्गति की तथा सङ्गति के प्रभाव से बने स्वभाव की बात पर विचार करके ही इनके सुधार को व्यवस्था करनी चाहिए। तब यहाँ भी जो स्वभावगत अपराधी हो गए हैं उनके सङ्गवर्जन मात्र से काम नहीं चलेगा क्योंकि वे खुद ही अपने लिए कुसङ्ग हैं। इनके लिए कठोरतर व्यवस्था की जरूरत हैं। प्रताड़णमूलक सारे काम (तरह-तरह से लोगों को ठगना, जालसाजी,

जुआ, लूटपाट, स्त्रियों का अपहरण, बिना टिकट की यात्रा करना आदि) साधारणतः सङ्गति के दोष के कारण ही होते हैं। जेल में भी इस बर्ग के अपराधियों में से जो स्वभावगत अपराधी हो गये हैं उन्हें बड़ी सतर्कता के साथ रखने की जरूरत है नहीं तो इनका रोग दूसरों में भी संक्रमित हो सकता है।

४- जिन देशों में जीवन की सर्व निम्न आवश्यकताएं साधारणरूप से पूरी की गई है उन देशों को छोड़कर बाकी देशों में इनके अभाव के कारण अधिकांश अपराधी होते हैं। पर सब जगह, सब मनुष्यों में अभाव के कारण समाज विरोधी प्रवृत्ति समान रूप से नहीं होती। नैतिक दृड़ता के मात्राभेद से इस प्रकार के अपराध में ह्रासवृद्धि होती है, पर नीतिज्ञान कितना भी दृढ़ क्यों न हो, जहाँ

अभाव के कारण जीने के लाले पड़ जाए वहाँ अधिकांश मनुष्य समाज की स्वीकृत संरचना पर आघात करने की चेष्टा करेंगे ही। ऐसी हालत में वे जो भी युक्ति दें उसे मानवधर्म का मुह देखकर अस्वीकृस नहीं किया जा सकता। वे इस अवस्था में मनुष्य के जिन्दा रहने के लिए सर्वनिम्न अधिकार की ही तो मांग करते हैं और इस अधिकार के ऊपर ही तो समाज की सार्थकता, सुस्थता निर्भर करती है। अवश्य ही संसार के इतिहास में ऐसी घटनाएँ कम नहीं हुई है जब लाखों लोगो को मनुष्यसृष्ट कृत्रिम दुभिक्ष के कराल गाल में पड़कर मरते देखा गया हैं फुटपाथ पर चलते चलते लड़खड़ा कर गिर पड़ा है पर परधन का अपहरण करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ है। अस्तित्व रक्षा के लिए भी उनके उग्र न हो उठने का एक कारण नीतिबोध होने पर भी वही एकमात्र कारण नहीं हैं। अनाहार का क्लेश भोगते भोगते जब

तिल तिल कर जीवनी शक्ति घटती जाती है तब आदमी लड़ सकने का सत्साहस ही खो बैठता है, मृत्यु को निश्चित मानकर मृत्यु की गोद में हो वह आश्रय लेना चाहता है; वंश परम्परागत रूप से गलत दर्शन और गलत धर्मविश्वास के आधार पर अपना गलत जीवन आदर्श गढ़ कर वे समझते हैं कि उनकी दुरावस्था विधाता का विधान है। उनके कपाल में यही लिखा हुआ है। संभव है उस समय यदि उन्हें कोई तेजस्वी नेता मिलता, वे आग उगलने वाली वक्तृता. सुनते, पथ परिवत्तन के लिए उन्हें यथोचित मार्ग दर्शन मिल पाता तो वे मिलकर तत्कालीन समाज की संरचना पर आघात करते। उस अवस्था में उनके इस प्रकार के काम को सत्नीति के विरूद्ध कहा जा सकता हैं पर वह अस्तित्व धर्म के विरूद्ध नहीं होता यह तो मानना ही पड़ेगा ।

अन्तर्मन से दुर्नीति से घृणा करने वाले सज्जन लोग भी बहुत बार अभाव की चपेट में पड़कर थोड़ी देर के लिए अपने मन का सन्तुलन नहीं रख पाते हैं। ऐसे लोग जब जान पर ही आ पड़ती हैं तब अपराध करने के लिए प्रवृत्त हो जाते है। ऐसी हालत में यदि जज उनका अपराध ही देखे या इस प्रकार के काम के कार्यकारण सम्बल के प्रति थोड़ो उदासीनता भी दिखाए तो इसका परिणाम क्या होगा ? इसश्रेणी के अपराधियों में से अधिकांश को यदि खाने पहनने को मिलता तो तथाकथित सज्जनों से ये अधिक सज्जन रहते पर केवल समाज की उत्पादन एवं वितरण की विषमता के फलस्वरूप अपराधी के रूप में जेल में सड़ते हुए दुर्जनों की संगति में रहने के कारण साथ ही अपनी सजा के कारण इनके मन में जो ग्लानि एवं घृणा होती है, अपमान की यंत्रणा होती है उसके कारण जेल से छूटने

के बाद ये धीरे धीरे स्वभाव से अपराधी वर्ग के हो जाते हैं।

अभाव की ताड़ना से अकाल पीड़ित क्षेत्र में बड़े पैमाने पर अपराध होते देखे जाते हैं और जैसे आर्थिक स्थिति उन्नत होती जाती है वैसे वैसे अपराधी की संख्या भी कमती जाती है। इससे तो यही समझ में आता है कि किसी भी देश की अधिकांश जनता या मोटे तौर पर मनुष्य जाति अपराध प्रवण नहीं है। मनुष्य खाते पहनते जिन्दा रहना चाहता है, चाहता है हैं सी खुशी में दिन काट दे, वह नहीं चाहता कि उसके स्वाभाविक विकाश का पथ किसी समाज की संकुचित दृष्टि के शास्त्रकार के निष्ठुर लौहकपाट से अवरुद्ध हो जाए ।

जो अभाव की यन्त्रणा से अपनी विवेकबुद्धि के विरुद्ध अपराधकों में लीन होते हैं वे भी रोज रोज वैसे काम करते-करते स्वभावगत अपराधो हो जाते हैं। पेट की ज्वाला से यदि कोई चोरी डकैती कर बैठे अथवा यदि कोई वृत्ति की प्रेरणा से हीन कर्म में प्रवृत्त हो जाय वैसी स्थिति में उसका अभाव समझ कर यथाविधि उस अभाव को दूर करने का प्रयास करना समाज का कर्तव्य है। किन्तु यदि समाज अपने इस कत्र्तव्य का पालन न करे (मैंने पहले ही कहा है कि सच्चे अर्थ में समाज का गठन मनुष्य नहीं कर सका है।) बल्कि उसके अपराध को ही बड़ा बना कर देखे, उसके विरुद्ध दण्ड व्यवस्था ले तो ऐसी स्थिति में अपराधी के मन में अपने किए हुए अपराध के लिए पश्चाताप नहीं होता बल्कि उल्टे एक विद्रोही भाव जाग उठता है। उस समय वह सौचता

है कि जो बदनामी होनी थी वह तो हो ही गई अब सत्पथ पर चल कर तकलीफ सहने की जरूरत क्या है ? - जब डूब रहे हैं तो डूब कर ही देख लें कि पाताल कितना नीचे है। अन्नवस्त्र या दैहिक या मानसिक कैसा भी अभाव क्यों न हो उसकी ताड़ना से जब आदमी कुकर्म कर बैठता है तब वह अपने कुकर्म के लिए भी समाज के सिर पर ही दोष मढ़ता है। लोगों को वह समझाना चाहता है कि सामाजिक व्यवस्था की त्रुटियों के कारण ही उसे वैसे अभाव का सामना करना पड़ा । बात भी बहुत कुछ ठीक है। किसी भी परिवार में कमाने वाले आदमी की यदि कहीं असमय में आँख मुद जाएँ तो उस परिवार को गरीबी की मनहूस छाया ढंक लेती है, अधिकतर परिवार छिन्नभिन्न हो जाता है, उसकी सारी मिठास, सारी पवित्रता केवल अभाव के दबाव से नष्ट हो जाती है। छोटे छोटे बच्चे भीख माँगने पर

विवश हो जाते हैं। इस तरह वे समाज में भिखमंगों की संख्या बढ़ाते हैं अथवा समाज विरोधी शक्तियों के हाथ में पड़कर अन्त में चोर, डकैत, गुण्डा, पाकेटमार या भिखमंगों का रोजगार चलानेवाले दल के दलाल हो जाते हैं। इसके साथ ही जिन समाजों में दिखावटो शुचिता अशुचिता का बोध खूब प्रवल है उन समाजों में अल्पवयस्क विधवाएं समाज-विरोधी जीवन-यापन करने के लिए बाध्य होती है या अनेक कारणों से इसके लिए प्रलुब्ध होती है।

अतः अभावमूलक इस समाज-विरोधी कार्यों के समाधान का मूलसूत्र समाज के स्वस्थ आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचे में निहित है। चोर होने के कारण जिसके प्रति घृणा व्यक्त की जाती है, आपके बदले तुम

कह कर जिसका अपमान किया जाता है वह भी यदि स्वस्थ सामाजिक अवस्था में पलता तो संभव है एक प्रसिद्ध मनुष्य होता। आज जिसे गणिका कह कर अवहेलित किया जाता है वही यदि जीवन के पूर्वाह्न में समाज की और से थोड़ी सहानुभूति पा जाती तो संभव है स्त्री समाज का नेतृत्व करती, संभव है किसी प्रसिद्ध नेता की माँ के रूप में समाज की श्रद्धा पाती। इसीलिए मैं कहता हूँ कि ये अभागे पाप का जो बोझा सिर पर ढो रहे हैं वह इनका अपना गढ़ा हुआ नहीं है और यदि हो भी तो उसका परिमाण अनुदारचित्त तथाकथित साधुओं के पाप से तो कम ही है, कम से कम ज्यादा तो नहीं ही है। जो पापाचरण अभाव के कारण होते हैं उनके विरुद्ध दण्डव्यवस्था लेने का अधिकार ब्रह्मा को भी है या नहीं इसमें सन्देह है; मनुष्य को तो नहीं ही है। फिर भी नैतिकता की दृष्टि से ऐसे पापाचरण का भी

समर्थन नहीं किया जा सकता। मैं तो कहूंगा इस प्रकार के पापोन्मुख व्यक्तियों को पापकर्म में प्रवृत्त होने के पहले विप्लव का मार्ग अपनाना चाहिए। नीतिज्ञान सम्पन्न व्यक्तियों को ऐसे लोगों को इसीमार्ग पर यथोचित रूप से प्रेरित करना चाहिए; विप्लव की आग में असल सौना को निकाल कर खाद को गला कर दूर कर देना चाहिए ।

अभाव के कारण जो लोग अपराध करते हैं उनके सुधार की व्यवस्था के लिए विप्लव का यह नारा सुनाने के अतिरिक्त सज्जनों के सामने दूसरा कोई मार्ग नहीं है- मुझे तो ऐसा ही लगता है - इस विषय में जज की अवस्था ठूंठ जगन्नाथ की तरह है- उसे न तो कुछ बोलना है, न कुछ करना ही है। मनोवैज्ञानिकों एवं

समाज-शास्त्रियों का कार्यक्षेत्र भी सीमित है। उनके सामने जो मार्ग है वह सुगम नहीं है। इसका समाधान राष्ट्रविशेष एवं समग्रविश्व की दृढ़ आर्थिक नीव पर ही पूर्णरूप से निर्भर करता है। इसके लिए यदि किसी को दोष देना है तो वह देना होगा प्रत्येक राष्ट्रनेता को। जनता को आशा की बड़ी बड़ी बातें सुनाकर या गगन-चुम्बी प्रलोभन दिखाकर गद्दी दखल करलेने से उनका काम पूरा नहीं हो जाता अपनी अयोग्यता पर बड़ी बड़ी बातें बनाकर पर्दा डाला जा सकता है, बौद्धिक लड़ाई में विजयी हुआ जा सकता हैं पर इससे कुत्ते या सियार का जीवन विताने वाला प्राकृत मनुष्य समाज अस्तित्व रक्षा के अधिकार की वास्तविक स्वीकृति नहीं पा सकता। पेट की भूख को मन की भूख को भूलकर एक दृढ़ राष्ट्र या विश्वमानव-समाज का गठन करने के महायज्ञ में मन प्राण से किसी प्रकार भी आत्मनियोग करने में समर्थ

नहीं हुआ जा सकता। जिसका खुद का पेट भरा हुरा है उसे दूसरे भूखे है यह अस्वीकार करने में क्या लगता है ? उनकी यह अस्वीकृति या नरपिशाचो का यह ममताहीन अभिनय हमलोगों ने बहुत देखा है और इसे सहने का अभ्यास सा होने गया है। पर जब ये अभाव निर्माण कर अभावग्रस्तों को अपराध करने में प्रवृत्त करते हैं, गोदाम में अनाज भर कर कृत्रिम दुभिक्ष निर्माण करते हैं और पेट की ज्वाला से क्लान्त लोगों को परोक्षरूप से लूटपाट के लिए उसकाते हैं या एक ओर सामाजिक दबाव डालकर घर छोड़ने को बाध्य करते हैं दूसरी ओर रुपये पसे का लोभ दिखाकर नारी को कुलत्यागिनी होने के लिए प्रलुब्ध करते हैं; जब अधिकांश देशों में समाज के ऊपरी वर्ग के लोगों के लिए बनाए गए कानून के अनुसार ये लोग अपने को बिल्कुल निर्दोष, बिल्कुल सज्जन बने फिरते हैं तब भी उनके

सूचो-पत्र

विरुद्ध साधारण जन कुछ नहीं कर पाता है। बोलना चाहने पर उनके सामने एक ही रास्ता खुला रह जाता है और वह रास्ता हैं गणविप्लव का। इन नरपिशाचों के हाथ से साधारण सरल लोगों को बचाने का पवित्र उत्तरदायित्व ले सकने योग्य व्यक्ति को जनसाधारण अपने राष्ट्र् के नेता लोगों के बीच खोज रहा है। मेरा तो कहना है कि यदि न्याय करना है तो उनको ही कटघरे पर चढ़ाना चाहिए जो परिस्थिति का दवाब डालकर लोगों को पशु बनाने वाले हैं। जो अभाव की चक्की में पिस कर अपराधी हो गए है उनका विचार करने का भार जज के कन्धों पर डाल देने का अर्थ है विचारक के प्रति अविचार करना ।

किन्तु अभावगत अपराध के सम्पूर्ण क्षेत्र में आर्थिक व्यवस्था ही उत्तरदायी है यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। ऐसा भी बहुत बार देखा गया हैं कि सच्छल सुसपन्न लोग भी शोक दुःख आदि मानसिक ग्लानि आदि को भूले रहने के लिए मद्‌यपान, तरह तरह का नशा, जूआ, दुश्चरित्रता, अतिविलासिता, आदि को प्रश्रय देते हैं और इस नशे में जब अपनी सच्छलता खो बउते हैं तब नशा पूरा करने के लिए गले तक कर्ज में डूब जाते हैं और जब कर्ज चुकाने की कई संभावना ढूंढने पर भी नही पाते तब तरह तरह के समाजध्वंसी अपराधों में लिप्त हो जाते हैं। आपातदृष्टि से इस प्रकार के अपराधों का कारण अभाव ही प्रतीत होता है इसमें कोई संदेह नहीं पर इस अभाव के लिए समाज उत्तरदायी नहीं रहता, यह तो शतप्रतिशत उसका अपना रचा हुआ होता है; इसीलिए इस प्रकार के अपराधियों के विरुद्‌ध संशोधन

की व्यवस्था लेना भी आवश्यक हैं। इनके सुधार का पहला और प्रधान मार्ग है इनका नशा छुड़ाना ।

एक और प्रकार का अपराध समाज में कुछ-कुछ देखा जाता है। वह है सामयिक अपराध-उन्मुखता। यह एक विशेष प्रकार की मानसिक व्याधि है जो किसी बिशेष परिवेश में सामयिक भाव से सृष्ट होकर थोड़ी ही देर बाद चली जाती है। Kleptomania या चौर्य वृत्ति इसी प्रकार की मानसिक व्याधि है। अपराध अनुष्ठानित होने पर ये लज्जित हो पड़ते है। अपहृत वस्तु प्रत्यापण में व्यस्त हो पड़ते है, मानस-क्षेत्र में भी यदा-कदा या सामयिक भाव लुण्ठन, नारी-हृदय, मद्‌य-पान या दुश्चरित्रता को प्रश्रय देते हैं किन्तु पता लगाने पर पाया जाता है कि इन सबों में भी उसका कोई व्यक्तिगत

स्वार्थ किचित मात्रा में नहीं था। साधारणतः दुर्बलमना व्यक्ति चोरी, नर हत्या या विभिन्न प्रकार के पापानुष्ठान को आँखो से देखते हैं उसे ले गभीर चिन्ता में लीन हो पड़ते हैं तथा प्रबल अन्तर्मंथन और आलोड़न के कारण अपनी शुभ बुद्धि के पथ से विच्युत हो पड़ते हैं विशेष विशेष देश, काल या पात्र के संस्पर्श में आकर जब पहले आलोड़न का पुनरोदय होता है उसी समय वह वैसा अपराध कर बैठता है। स्वयं चारी न कर, चोरी की बात और चोरी की पद्धति को सोचते-सोचते कभी-कभी बह ऐसा बोलना आरंभ कर देता है जिसे सुनने से पता चलता है कि वह सचमुच ही अपराधी है। किसी वीभत्स हत्याकाण्ड को देखने के बाद कई बार ये दुर्बलमना व्यक्ति अपने को ही अपराधी समझने में रत हो जाने के कारण अपने घर में निहित व्यक्ति का वस्त्र या अंग-प्रत्यंग या अन्य कोई चिह्न छिपाकर रखता है एवं

समाज में अपराध की विशद् व्याख्या करते देखा जाता है। "इस प्रकार उसे पकड़ लाया, इस प्रकार उसे छुरी मारा इत्यादि ।" इस दिशा में पुलिस उसे अपराधी समझ लें और विचारकी की दृष्टि में साक्षी-प्रमाणादि की नीति पर उसके विरुद्ध में कोई व्यवस्था ले ले तो कतई आश्चर्य नहीं। इस प्रकार की अवस्था में गोपन जाँच पुलिस की तत्परता और विचारक की अन्तर्दृष्टि इन तीनों में से किसी एक में कुछ अभाव रह जाने पर निरपराध के लिये दण्ड भोग करने की संभावना अत्यधिक रह ही जाती है।

अधिकांश अपराध का मूल उत्स अभाव है तो भी अभाव ही एक मात्र कारण नहीं है। अर्थनैतिक बुनियाद सुदृढ़ होने पर भी अपराध अनुष्ठानों के अन्यान्य कारण

उपस्थित रह जा सकते हैं। जिसके फलस्वरूप सामाजिक शांति एवं श्रृ खला विघ्नित हो पड़ती है। अभाव दूर होने के साथ ही साथ संग-दोष तथा परिवेश-सृष्ट अपराधानुष्ठान भी कुछ-कुछ कमते जाते हैं किन्तु जन्मगत तथा अभ्यासगत कारणों से अनुष्ठित अपराध में कमी-बशी नहीं होती है।

मोटे तौर पर अपराध किन-किन कारणों से अनुष्ठित होते हैं सोचने पर, उनका विश्लेषण करने पर या कारणों की विज्ञान सम्मत भाव से तालिका प्रस्तुत किये जाने पर, जो वस्तु हमलोगों की आँखों के सामने सबसे रहस्य भाव से प्रकट होती है, वह है मानव मन का वृत्ति-वैचित्र्य और उसकी स्थान-काल-पात्रगत सबलता या दुर्बलता । नृशंस प्रकार के अपराधों के कारण खोजने पर

सूचो-पत्र

हमलोग बहुधा नियमित रूप से विभ्रान्त हो पड़ते हैं। अपराधी सम्भवतः उपर्युक्त किसी भी श्रेणी का अपराधी न हो। अपराध के गुरुत्व विचार से उसे दवात संघटित या सामाजिक उत्तेजना के कारण संघटित अपराध मान क्षमा या उपेक्षा नहीं की जा सकती है। नृशंषभाव से अनुष्ठित अपराधों का जिनका सरसरी तौर विचार किया जा सकता है, निम्न प्रकार के हैं:ï

(१) नशे की हालत में विचार बुद्धि के अभाव में या उत्तेजना की अधिकता के कारण अनुष्ठित अपराध ।

(२) विषय-सम्पत्तिगत विद्वेष ।

(३) मर्यादा के ऊपर गुरूतर आघात लगना या किसी प्रकार की रिपुगत भावना ।

(४) नारी संक्रान्त व्यापार और

(५) गुरुतर मतभेद,

जिसे मानसिक सबलता का अभाव है वह भला मनुष्य होने पर भी उपर्युक्त कारणों में जब किसी एक का अवलम्बन करे तो जिस किसी भी प्रकार का भयंकर अपराध कर सकता है। अपराध सिर्फ मस्तिष्क गर्म होने पर ही होता है, ऐसा नहीं है। प्रथम कारण को छोड़कर किसी भी शेष कारणों से स्वस्थ मस्तिष्क से भी अपराध कर सकता है अथवा दीर्घकालतक मनुष्य के मस्तिष्क में यह भावना बनी रह सकती है। अपराध करने पर चंचल मस्तिष्क से अनुष्ठित अपराध कह टाला नहीं जा सकता है। संभवतः दिखायी पड़ता है कि किसी गुरुतर अपराध को प्रस्तुत करने के लिये कोई स्वस्थ मस्तिष्क में छः मास तक भाव संजोये रखा था एवं इस प्रकार की प्रस्तुति करने के पहले उसके जीवन में अपराध प्रवणता का कोई पूर्वाभास नहीं था । वस्तुतः

इस श्रेणी के अपराध, जैसा आगे कह चुका हु, का कारण मनुष्य की मानसिक दुर्बलता के ऊपर निर्भर करता है और नृशंस वृत्ति जग उठती है; देश-काल-पात्रगत परिवेश के भेद के कारण कहीं-कहीं दो चार वर्ष के पश्चात 'तो कहीं दो-चार मिनट के पश्चात ही पनप उठती है। जहाँ दस पाँच मिनट के भीतर सजग हो काम किया जाता है वहाँ उसे हम च'चल मस्तिष्क से अनुष्ठित अपराध को छोटा बना देते हैं। जहाँ अपराध दीर्घकालतक तिल-तिल जमकर अथवा सृष्ट भाव से अपराध अनुष्ठान करने के लिए अपराधी स्वेच्छा से नशा पान किया था या दूसरों को नशा-पान कराया था वहां पर किये गये अपराध को स्वस्थ मस्तिष्क में अनुष्ठित अपराध कह क्षमा करने में हम कृपणता करते हैं। सच तो यह है कि अपराध की मात्रा दोनों ही

अवस्था में समान है एवं मनस्तात्त्विक विचार से दोनों में पार्थक्य अति सामान्य है।

मनुध्य जहां पर जिस किसी भी कारण वश स्वभावगत अपराधी नहीं हो पाया है, जिसके अपराध करने के पीछे कोई भी सत्रब (नजीर) नहीं है, जिन सभी नये अपराधों के पीछे किसी प्रकार की अवस्था दबाब भी नहीं है, या जो शरीरगत मनोगत किसी भी कारण से मानसिक व्याधिग्रस्त नहीं हो पाया है, उसके विरुद्ध में संशोधनी व्यवस्था लेने का प्रस्ताव कितना मूल्य बहन करता है-यह प्रशन समाज हितैषी व्यक्तिओं के मन में ही उठ सकता है। अभिज्ञ विचारक या समाज हितैषी व्यक्ति इस दिशा में संशोधनी व्यवस्था के बदले दण्ड की व्यवस्था या दण्ड-विधान ही करेंगे। नीतिगत विचार

से उनके इस अभिमत को नहीं मान लेने के सिवाय दूसरा चारा नहीं है। तोभी जब जानते हैं कि वृत्ति का दास दुर्बल-मना मनुष्य देश-काल-पात्र सृष्ट अवस्था के चाप से अन्याय करने में रत हो पड़ता है या हुआ था तब उस अवस्था में ही उसकी वृत्तिगत उन्नति या मनोगत दृढ़ता को जगा देना क्या समाज के लिए करणीय नहीं है ? और उसे जगा देने के लिये चाहे दण्डमूलक व्यवस्था हो या संशोधनी व्यवस्था ही? तो हां, इन सभी दिशाओं में सशोधनमूलक व्यवस्था के अङ्ग रूप में कठोर दण्ड की भी व्यवस्था रखना आवश्यक है। इसके अलावे संशोधनी व्यवस्था में शास्ति का एक विशेष स्थान रहने पर वृत्ति के स्रोत में भस पड़ना अन्ततः शास्ति के डर से मनुष्य नहीं चाहेगा। इसके फलस्वरूप कतिपय अवस्था के चाप से असत् व्यक्ति सदाचरण करने को वाध्य होगा। इससे समाज

उपकृत होगा और असत वृत्ति सम्पन्न व्यक्ति को सत्पथ की ओर ले जाने में समाज-सम्मत सुयोग मिलेगा । अपनी वृत्तिगत हीनता के विषय में जो सजग है वह भी भद्र समाज में भद्र पुरुष की परिचिर्चात वहन कर अन्तर्देश में भी भद्र होने की चेष्टा में रत होने का सुयोग पायेगा। निन्दावाद, ईर्ष्या, दलबन्दी, कर्मविमुखता. वचनवागीशता प्रभृति विभिन्न प्रकार की समाजगत त्रुटियाँ सामान्य अनुकूल प्रवेश पाने पर मनुध्य को बड़े प्रकार का अपराधी बना देती है। आधुनिक मनुष्यों के बीच ये त्रुटियाँ बहुतायत में देखी जाती हैं जिसका कारण राजनीति-प्रवणता है। विश्व की वत्त मान राजनीति, सेवापरायणता का सम्पर्क छोड़ देने के कारण सम्पूर्ण भाव से क्षमतालिप्सा भाव के ऊपर हो स्थित है। यह क्षमता लिप्सा भाव मनुष्य के मन से नहीं कम कर सकने पर आधुनिक युग में इस प्रकार की

राजनीतिक-प्रवणता समाज से नहीं हट पाती है। इस प्रकार की राजनोति वृत्ति मनुष्य को शनैः शनैः स्वभाव-अपराधी में परिणत कर देती है। समय रहते ही उससे सतर्क रहने की चेष्टा मनुष्य को करनी ही होगी और मानव हितैषी प्रत्येक मनुष्य को ही इस संबंध में एक सुदृढ़ तथा सुपरिकल्पित नीति का अवलम्बन कर काम में हाथ बंटाना होगा। यदि सम्पूर्ण मानव-वर्ग ही स्वभावगत अपराधी में परिणत हो परमत-सहिःणुता खो बैठे, अपनी शुभ बुद्धि से सबों की सम्पत्ति की प्रतिष्ठा के मोह में यदि अपने को बेंच दे तो मानब की यह सुदीर्घ सभ्यता की साधना ब्यर्थ हो जायेगी- व्यर्थ हो जायेगी उसकी अस्तित्त्व-बोध के मूल्य निर्धारण की सकल प्रचेष्टा ।

अधिकांश देशों में ही वहाँ के धर्ममताश्रयी (based on religion) पाप पुण्य बोध के ऊपर ही क्राइम या अपराध की संज्ञा निर्धारित होती है। दष्टान्त-स्वरूप इंगलैण्ड में जनसाधारण की प्रचलित धारणा के अनुसार आत्म हत्या एक बड़ा अपराध है, भारतवासियों के विश्वासानुसार आत्महत्या अपराध होने पर भी उतना बड़ा पाप नहीं है और जापान में जनसाधारण के विचार से आत्महत्या कुछ भी पाप नहीं है। तीन देशों की दण्ड संहिता भी इसीलिए तीन प्रकार के भावों से बनी हैं। जापान में आत्महत्या या आत्म-हत्या की प्रचेष्टा कोई भी अपराध नहीं हैं इसलिये किसी के लिए दण्ड नहीं भोगना पड़ता है। वर्त्तं मान भारत में आत्म-हत्या को चेष्टा अपराध है; किन्तु आत्म-हत्या कर लेना अपराध नहीं है इसीलिये आत्म-हत्या की चेष्टा करने पर भारतवर्ष में दण्ड भोगना पड़ता है, किन्तु आत्म

सूचो-पत्र

हत्याकारी को दण्ड नहीं भोगना पड़ता है। किन्तु इंगलैण्ड में आत्म-हत्या की चेष्टा भी अपराध है एवं आत्म-हत्या करना भी अपराध हैं एवं उभय के लिए ही दण्ड भोग करना पड़ता है। अतः देखा जाता है कि पाप या पुण्य के नाम पर जो चित्कार करता है, आकाश पाताल को कम्पित करता है अधिकांश समय हो उसका चित्कार देश की चतुःसीमा के बाहर नहीं जा पाता ह । विशेष विशेष धर्ममताश्रयो विश्वास या प्राकृतिक या अन्य किसी कारण से सृष्ट समाज का पुञ्जओ-भूत संस्कार इन दोनों में से किसी एक को या एक साथ दोनों को ही केन्द्र बना कर पाप पुण्यबोध बनाता है एवं यह जो बोध है वह देश भेद को बदल देता है ऐसा नहीं है, काल तथा पात्रभेद में परिवर्तित हो पड़ता है। प्राचीन भारत के निवासी निविकार चित्त की असहाय नारी को चिता में डाल कर जला देते थे। वह कोई पाप या

अन्याय काम है ऐसा बोध उनके मन में नहीं उदित होता था। और इसो कारण से जिसने सतीदाह के विरुद्ध में आन्दोलन किया था उन दिनों यहाँ के भारतवासी उन्हें समाजद्रोही, देशद्रोही, पापा-चरण को प्रश्रय देनेवाला मान बैठे थे। आज दुनियाँ के एक परिवर्तित युग में रह कर उन दिनों के उन मनुष्यों के सम्बन्ध में किसी घृणा या अवज्ञा का भाव पोषण करना उचित नहीं होगा ।

जॉन आफ आर्क को जिन लोगों ने आग में जला कर मार डाला तब लोगों ने उस समय की पाप पुण्य की धारणाओं के अनुसार संभव है अन्याय किया हो। और एक ही समय, एक ही देश में पाप पुष्य को अलग अलग धारणाएँ हो सकती हैं। किसी शाक्त के लिए मांस खाने में कोई पाप नहीं है पर किसी वैष्णव के लिए

मांस खाने की बात तो दूर रहो पशुहत्या देखना भी पाप है। अतः तब पाप पुण्य की बात में स्वयं ही हल्ला करना या सम्प्रदाय अथवा राष्ट्रीय विधान के विरुद्ध आन्दोलन करना बिल्कुल बेकार है। इसलिए आज प्रत्येक मनुष्य को इस सम्बन्ध में अत्यन्त उदार दृष्टिकोण रखना चाहिए अन्यथा परम असहिष्णुता धर्मरक्षा या पुण्य की प्रतिष्ठा के नाम पर संसार का मध्ययुग की तरह नररक्त से रंजित करती रहेगी। राष्ट्रव्यवस्था कैसी भी हो पर पापपुण्य के सम्बन्ध में किसी विशेष शास्त्र के निर्देश को अन्तिम बात मान लेना किसी भी राष्ट्र के लिए वाञ्छनीय नहीं है। आज के गणचेतना के युग में यदि कोई राष्ट्र ऐसी भूल कर बैठे तो उसका अस्तित्व ही खटाई में पड़ जायगा ।

पाप या पुण्य, देश, काल, पात्र भेद से मानसिक विकृति का ही विशेष नाम है। जिस प्रकार की विकृति को एक देश या एक काल में एक आदमी पाप कहता है उसी को दूसरे देश में या दूसरे काल में एक दूसरा आदमी पुण्य कहता है। ऐसी दशा में न्यायसंहिता किस प्रकार बननी चाहिए। यदि मानव समाज की टुकड़ियों की पापपुण्य की अलग अलग धारणाओं के आधार कर न्यायसंहिताए बनें तो प्रश्न उठता है-यदि किसी अपराध में दो भिन्न टू कड़ियों के दो आदमी अदालत में वादी और प्रतिवादी के रूप में खड़े हों तब न्यायव्यवस्था कैसी होगी ? अतः न्यायस हिता के लिए किनकी पापपुण्य की क्या धारणा है यह देखकर अपराध का निश्चय करना उचित नहीं हैं। एक नैतिक मान (Moral standard) के आधार पर क्या अपराध है और क्या नहीं यह निश्चय करना होगा । नीति विराधी काम से मेरा

तात्पर्य उस काम से है जो व्यक्ति के या दल के स्वार्थ की प्रेरणा से दूसरे किसी व्यक्ति, दल या शेष समाज का शोषण करने के लिए या उन्हें अपने अस्तित्व की रक्षा के अधिकार से बञ्चित करने के लिए किया जाए। इस प्रकार के नीतिविरोधी भाव के आधार पर जो काम होता है वे ही अपराध हैं। व्यक्ति विशेष की, कालविशेष की पापपुण्य की धारणाओं को अन्तिम बात मान लेने से कानून में आवश्यक संशोधन करने का अवकाश बहुत संकीर्ण और सीमित हो जाता है और फलस्वरूप समाज की गतिशीलता बाधित हो जाती है। चरम विश्रृङ्खलता के बीच सामाज दम तोड़ देता हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन मिश्र, रोम, ग्रीस के समाज एवं बुद्‌ध के पहले के वैदिक समाज की ऐसी ही अवस्थाओं में मृत्यु हुई। इस प्रकार के संशोधन का सुयोग न रहता तो आज भी सतीदाह प्रथा जबर्दस्ती रखी जाती। क्योंकि उस समय

के समाज के लिए सतीदाह पुण्य काम था। अतः प्रत्येक विचारशील आदमी न्यायसंहिता में परिवर्तन या परिवर्द्धन में सुयोग रखने के पक्षपाती है।

भारतवर्ष में भी वैदिक युग के स्मृतिशास्त्रों की परिवर्त्तनशीलता जब निहित-स्वार्थ आर्यों के प्रभाव में पड़कर रुक गई उसी समय बौद्धविप्लव हुआ। इस विप्लब के धक्के ने लोगों को बहुत कुछ सावधान कर दिया था। बाद में बौद्ध, जैन या और किसी दूसरे मत को ग्रहण करने पर भी उन्होंने अकपट मान लिया था कि स्मृतिशास्त्रों में परियत्न होना चाहिए या युग-युग में पाप पुण्य की धारणा बदलने के लिए बाध्य है। पराशर संहिता के युग में एक तरह की समाज व्यवस्था देखते हैं, रामायण केवो युग में एक तरह की और महाभारत के युग में और एक तरह की तथा बाद में मनुसंहिता के

समय और बदली हुई अवस्था दीख पड़ती है। जो समझते हैं कि देश, काल, पात्रों में चाहे जितने भी परिवर्तन क्यों न हो राष्ट्रीय शक्ति के बल पर वे जनसाधारण के सिर पर मनमानी न्याय-व्यवस्था या न्यायसंहिता लाद देंगे, वे भूल करते है। न्यायसहिता की मूलभिति होगी मनुष्य का सामूहिक प्रयोजन, इसमें व्यक्तिविशेष या दलविशेष की मनमानी या पाप पुण्य की विशेष धारणारों का कोई मूल्य नहीं ।

समाज एक गतिशील सत्ता है। उसे अपने चारो ओर के घेरे के बीच से सीमाहीन सग्राम करते हुए, आगे बढ़ते जाना है। क्रम परिवत्तं नशील भिन्न-भिन्न तरह के संग्रामों में उसे अपने को अर्थात् समाजदेह को भिन्न भिन्न तरह से सजाना होता है। अतीत समय में उसने

जो संग्ग्राम किया है आज का संग्राम बैसा नहीं है और आगे आने वाले समय का संग्राम और भी बदल जाएगा - यह भूत्र जाने से काम नहीं चलेगा । अतः प्रत्येक बदले हुए परिवेश में नैतिक विधान के आधार पर उसे नई नई न्याय संहिता बनानी पड़ेगी। किसी खास व्यक्ति या दल का जो प्रयास खास व्यक्ति या दल के, अथवा बाकी समाज के अस्तित्व की रक्षा का विरोधो न होकार जीवनधर्म के अनुकूल हो उसे संहिता बनानेवालों के द्‌वारा पूरी स्वीकृति मिलनी चाहिए नहीं तो उनकी संहिता अस्वाभाविक होगी और अपङ्क्लेश होकर पड़ी रहेगी अर्थात् उसे यथायथरूप से जारी करना राष्ट्र के लिए सम्भव नहीं होगा (जैसे अंग्रेजों के शासनकाल में भारतवर्ष में शिक्षाविस्तार व्यापकरूप से न हो पाने के कारण शारदा-कानून यथायथ रूप से नहीं चल सका) अथवा समाज के एक बड़े भाग को कानून की दृष्टि से

अपराधी समझे जाने की सम्भावना बनी रहने के कारण दण्ड से बचने के लिए वह मिथ्याचार या दूसरे अनेक तरह के समाज विरोधी कामों में लिप्त रहेगा। इस प्रकार समाज का नैतिक मान बहुत नीचा हो जाएगा। अतः इस तरह की संहिता बनने पर अन्त में राष्ट्र व्यवस्था की ही अपनी मर्यादा नष्ट होगी, समाज में वह हास्यास्पद बनी रहेगी।

मनुष्य जब कोई नृशंस अरपाध कर बैठता है तब अधिकांश क्षेत्रों में वह जन-साधारण की सहानुभूति खो बैठता है। तब इतना अवश्य है कि जिस देश के लोग साधारणतः जिन कामों को पसन्द नहीं करते वैसे कामों का विरोध करने के लिए जो नृशं सता का आश्रय लेते है ऐसे अपराधियों को उल्टे जनता की सहानुभूति

मिलती हैं। नीति दृष्टि से प्राणदण्ड की व्यवस्था का समर्थन न करने पर भी खास खास अवस्था में लोग इस व्यवस्था के समर्थक हो जाते हैं। जब इस प्रथा में सुधारमूलक कोई व्यवस्था नहीं, दूसरों के मन में डर पैदा करने के सिवाय जब इसका दूसरा सदुपयोग नहीं तब केवल क्रोधवश जान के बदले जान की नीति सभ्य समाज के लिए उचित नहीं मालूम पड़ती । जो सचमुच अपराधी है, जिसके लिए जनसाधारण का सामाजिक, मानसिक या ऐतिहासिक किसी तरह का भी समर्थन नहीं वहाँ उस आदमी के लिए (वह चाहे कितना बड़ा अपराधी क्यों न हो) सज्जन मनुष्य के रूप में परिणत होने का - समाज की सम्पत्ति के रूप में परिणत होने की संभावना ही नहीं रह जाएगी। अपराध की जघन्यता के कारण जिसके लिए हमारे मन में जरा भी ममता नहीं रहती हो सकता है वह अपनी करनी पर बहुत

पछताता हो- यह भी हो सकता है कि वह अपनी बाकी जिन्दगी सचमुच देश की सेवा में खपा देना चाहता हो। इसके अतिरिक्त यदि अपराध मानसिक व्याधि हो तब अपराधी के रोग की चिकित्सा न करके उसकी हत्या की व्यवस्था क्या चरम दायित्वहीनता का परिचायक नहीं है? जिस युक्ति से दूसरे अपराधी भी तुलनात्मकरूप से सद्व्यवहार पाने की आशा कर सकते हैं। सिर दर्द के लिए सिर उतार डालने की व्यबस्था का समर्थन कौन कर सकता है? कहा जा सकता है कि ऐसे अपराधियों को यदि फाँसी न दी जाए तो उनके लिए आजीवन कारावास की दण्ड व्यवस्था रखनी होगी क्योंकि उनकी मानसिक व्याधि दूर करने योग्य उपयुक्त व्यवस्था दुनियाँ के अधिकांश देशों में नहीं है। किन्तु ऐसी व्यवस्था लेने से कारागारों में जगह नहीं मिलेगी; राष्ट्र के लिए इतने लोगों के लिए अन्न वस्त्र की व्यवस्था

क्या सम्भव हो सकेगी? मैं तो कहूँगा वे राष्ट्र के पैसों पर क्यों पलें -प्रत्येक राष्ट्र को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कि वे कारावास में अपने श्रम की रोटी खाए और दण्डभोग के अन्त में समाज में जाकर अपने परिश्रम के बदले अर्थोपार्जन की सुविधा पा सकें। अतः कारागार ठीक सुधार-विद्यालय की तरह के होने चाहिए और काराध्यक्ष को समाज के लिए दर्द रखने वाला मनोवैज्ञानिक शिक्षक होना होगा। जज की तुलना में काराध्यक्ष की योग्यता कम नहीं होनी चाहिए विश्व-विद्यालय की उपाधि देखकर या उपरवालों की मनोरञ्जन को योग्यता का परिमाप देखकर इस पद पर नियुक्ति करना अत्यन्त हानिकर होगा। समाज विरोधी कार्य-कलाप के अभियोग में जेल में आने वाले जब देखते है कि उनके साथ नित्य अविचार हो रहा है लोग मनुष्य हृदय लेकर उनके साथ नहीं मिलते, जब वे

देखते हैं कि सरकारी परिमाप की तुलना में उन्हें कम या निकृष्ट भोजन मिलता है तब उनमें हिसावृत्ति तथा अपराध प्रवणता और भी अधिक देखी जाती है। इस प्रसङ्ग में और एक प्रश्न उठता है। मान लें किसी अत्यन्त निकृष्ट तरह के अपराध में कोई आदमी जेल चला गया हो तो उस पर निर्भर करने वाले परिवार का क्या होगा ? उन्हें जिन्दा तो रहना ही है इसलिए उनके लड़के पाकेटमार के दल में जाएगे और लड़कियाँ पतितावृत्ति ग्रहण करेंगी अर्थात एक अपराधी को दण्ड देकर दस अपराधी बनाए जाएगे अतः अपराधी को कारागार में रखने के समय उसके परिवार वर्ग की आर्थिक अवस्था की बात जरूर सोच लेनी होगी और इस परिवार के लोग श्रम के बदले सद्भावपूर्वक अर्थोपार्जन की सुविधा पा सकें ऐसी व्यवस्था राष्ट्र को ही कर देनी होगी। जनसाधारण को न्यायव्यवस्था की पूरी-पूरी

सूचो-पत्र

सुविधा एवं सुयोग देने के लिए इस व्यवस्था को जनसाधारण के लिए आर्थिक दृष्टि से सुगम कर देना होगा। इस दृष्टि से जिन बातों की आवश्यकता होगी उनमें एक तो यह है कि अनेक प्रकार के जजों की संख्या और भी बढ़ानी होगी। मोटे तौर पर यह बात संसार के सब देशों के लिए लागू होनो है। काम की भीड़ के कारण जज बहुत बार मुकदमें की तारीख बढ़ाते रहने के लिए बाध्य हो जाते हैं। मैं यह नहीं कहता कि यह खराब है बल्कि अनेक बार तारीख बढ़ाते रहने के कारण निरपराध व्यक्ति को सुविधा ही मिलती है पर अपराधी को भी ती सुविधा मिलती है - वह गवाह, प्रमाण आदि नष्ट कर देने का सुयोग पा जाता है तथा झूठे गवाह, आदि खड़े करने का अवकाश पा जाता है- यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जनस्वार्थ के लिए कहाँ तारीख बढ़ाना उचित है यह प्रत्येक अभिज्ञ जज जानते है पर

जहाँ जनस्वार्थ की कोई बात नहीं केवल काम के बोझ के कारण तारीख बढ़ाने में किसी भी जज की आत्मा साथ नहीं देती। अतः जज की संख्या बढ़ाने की जरूरत है यह बात स्वीकार करनी ही होगी। पर जजों की संख्या बढ़ाना भी सहज नहीं है। बहुत विचार पूर्वक योग्यता की जांच करके ही यह काम किया जा सकता है। सब अपेक्षाकृत सरल और गतानुगतिक अपराधों के मामलों का विचार करने का भार जिम्मेदार नागरिकों के हाथों छोड़ा जा सकता है। इसके लिए अवैतनिक जजों की नियुक्ति की व्यवस्था बुरी नहीं है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार के अवैतनिक जजों को भी यथेष्ट जिम्मेदारी लेकर काम करना होगा। जो लोग व्यवसाय में हठात् पैसेवाले हो गए हैं, जो खुशामद करने में नाम कमा चुके है-ऐसे लोगों में से अवैतनिक जज चुनने की व्यवस्था जिन

देशो में है वहाँ वे जनसाधारण के लिए विल्कुल बोझ हैं। एक बार एक कहानी सुनी थी, इस श्रेणी के एक अत्यन्त विद्वान जज, उनका पेशकार किस नाक में नस ठूस रहा है यह देखकर आसामी या फरियादी के पक्ष में अच्छी तरह रायं लिखते थे। कहना बेकार हैं कि जो पक्ष पेसकार बाबू की मुट्ठी गरम करता था उसी के पक्ष में न्याय जाता था। बीसवीं शताब्दी के हम लोग इस प्रकार की व्यवस्था को पुरानी कहानी के रूप में देखना चाहते हैं वत्त मान व्यवस्था के रूप में नहीं ।

औषधि से प्रतिरोधक व्यवस्था का महत्त्व बहुत ज्यादा है; यह वात जीवन के सभी क्षेत्रों में समानरूप से घटित होती है। तथाकथित सभ्यता की अग्रगति के साथ

जब अपराधों की गतिप्रकृति भी विचित्र तरह की दीख पड़ती है तब उनके विरुद्ध् औषधि की व्यवस्थासे प्रतिरोधक व्यवस्था की चिन्ता करना अधिक आवश्यक है इसमें दो मत नहीं हो सकते। किस प्रकार की सुधारमूलक व्यवस्था करने से अपराधी के मन की व्याधि दूर हो सकेगी इसकी चिन्ता की अपेक्षा किस प्रकार की व्यवस्था से मनुष्य में अपराध - प्रवणता सिर नही उठा सकेगी इसकी चिन्ता सभ्य लोगों को अधिक करनी होगी। मनुष्य आनन्द प्राप्ति का आदर्श सामने रख कर काम करना चाहता है, लौकिक विचार से उन कामों को हम अच्छा बरा, पाप, पुण्य चाहे जो भी कहें। हम लोग मनुष्य के इन कामों पर उसके साध्य एवं साधानाक्रम का बिचार कर पाप या पुण्य की छाप लगा देते हैं। सचाई यह है कि अधिकांश मनुय माँ के गर्भ से असाधु के रूप में नहीं जनमते । शरीरसंस्थान की

ग्रन्थियों में त्रुटियों के कारण इन साध्यसाधनाओं में मनुष्य-मनुध्य में भेद दीख पड़ने पर भी कोई अवस्था मनुष्य की सामूहिक शक्ति के बाहर है यह सिद्धान्त नहीं माना जा सकता । कोई कैसा ही हो यदि उसका साध्य निश्कलङ्क है, यदि व्यापकता की पूर्णता उसका साध्य है तो साधनागत त्रुटियों के कारण किसी गनुष्य को मनुष्येतर जीव में नहीं गिना जा सकता। तब यह जरूरी है कि इसके साथ ही यदि साधनक्रम भी मनोविज्ञानसम्मत हो तब तो कोई बात ही नहीं; तब अवश्य ही अनेक मनुष्य अपने वत्त मान बहुत्व को एकत्व भाव में अनुरागित कर एकत्व की दिशा में चलते चलते समाजजीवन के भीतरी व्यष्टिवैषम्य को क्रमशः एक सुरधारा में, एक ही छन्द में ले चल सकेंगे और वही स्वस्थ समाज का सच्चा उदाहरण होगा। यह एक की भावना अध्यात्मभावना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

सूचो-पत्र

सर्वानुस्युत समष्टिबोध जिस तत्व में समाहित है उस तत्त्व को और उसकी उपलब्धि के मार्ग को अपने जीवन-वेद के रूप में एक मनुष्य को एवं मानवसमष्टि को ग्रहण करना पड़ेगा। जब तक वह उसे नहीं अपनाता तब तक मनुष्य जाति को लेकर कोई दृढ़, सुसम्बद्ध परिकल्पना को रूप देना किसी प्रकार सम्भव नहीं होगा। दृढ़ आधार वाली दण्डसंहिता या समाजसंहिता ही सामाजिक मुक्ति नहीं ला दे सकती। जहाँ आध्यात्मिक आदर्श नहीं है वहाँ सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, साहित्यिक या राष्ट्रीय कोई भी नीति या कोई भी प्रचेष्टा मनुष्य को शान्ति का मार्ग नहीं बता सकती। मनुष्य यह चरम सत्य जितनी जल्दी समझेगा उतना ही मङ्गल होगा ।

सूचो-पत्र

पाप हो या पुण्य दोनों ही मानसिक विकृति हैं। विशेष देश, काल या पात्र में जो दोष के रूप में लिया जाता है बही दूसरे देश, काल या पात्र में पुण्य समझा जाता है। साधारणतः सब देशों में वहाँ की दण्डसंहिता स्थानीय लोगों की पापपुण्य की धारणाओं के आधार पर बनती है और जनसाधारण की पापपुण्य की धारणा प्रचलित थर्मशास्त्रों के मतवादों के आधार पर बनती है। मैं तो समझता हूं जो मानसिक व्यापकता में सहायक है, जिसके द्वारा जगत् को अधिकाधिक रूप में आत्मीयभाव से निकट लाया जा सके वही पुण्य है और जो अपने को ही सब कुछ, स्वार्थपर बनाए वही पाप है। पुण्यकर्म में लगे व्यक्ति की मानसदेह जिस भूमि पर विचरण करती है वही स्वर्ग है और पापाचारी का मन जिस लोक में भटकता रहता है वही नरक है। किस शास्त्र में किसने कहाँ क्या कहा है इसी का विचार करने

बैठने की मुझे आवश्यकता नहीं मालूम होती है और इसलिए मैं कहता हूँ - भौगोलिक परिस्थितियों पर आश्रित कारणों को छोड़ कर दूसरे सब कारणों से होने वाली सामाजिक जटिलताएँ विश्वमानव के लिए एक ही नियम कानून से दूर हो सकती हैं, एक ही दण्डस हिता से होनी चाहिए । मनुष्य मनुष्म में, देश देश में, सम्प्रदाय-सम्प्रदाय में तरह-तरह के कानून प्रचलित रहें यह किसी प्रकार भी उचित नहीं। सभी सुख में हँसते हैं, दुःख में रोते हैं, शोक में छाती पीटते हैं, सब के लिए अन्न, बस्त्र, घरबार की जरूरत है तब क्यों हम लोग हजारों प्रकार के अपने अपने मनमाने छाप लगा कर मनुष्य को मनुष्य से अलग कर रखें ?

मोटे तौर पर कानून बनाने का अधिकार सर्वजन स्वोकृत विश्व संस्था के ऊपर छोड़ देना चाहिए । नहीं तो किसी भी समय, किसी देश में अल्पस ख्यकों पर अत्याचार किए जाने की संभावना बनी रहेगी। सब जानते हैं कि किसी देश में बड़े रूप में उथल पुथल मचने पर विप्लवी यदि विजयी होते हैं तो उन्हें देशभक्त कहा जाता है और यदि वे संग्राम में हारे तो निर्दोष होने पर भी दण्ड की तलवार उनकी गर्दन नापती है। तब वे देशद्रोही कहे जाते हैं। न्पूनाधिक रूप से सब देशों में शक्तिमान की इच्छा ही कानून है। उसकी स्वेच्छाचारिता की आलोचना नहीं हो सकतो । पर क्या यह अवस्था वाञ्छनीय है ? क्या इससे सभ्यता के मुख पर कलङ्क नहीं लगता। अतः मैं कहता हूं कि विश्व संस्था के द्‌वारा तो कानून बनना ही चाहिए इसके अलावा मनुष्य की न्याय करने को चरम क्षमता भी

उसी विश्वसंस्था के हाथों रहना चाहिए। यदि विश्वसंस्था किसी देश के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न करे तो अधिकांश देशों के राजनैतिक क्षमता वर्जित या पदच्युत समष्टि या व्यक्ति विशेष कागज कलम में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सुयोग पाने पर भी असल में क्रीतदास का ही जीवन विताते रहेंगे ।

विभिन्न वृत्तियाँ

कानून व्यवसायी :

जीवनधारण के उपायों को वृत्ति कहा जाता है। मन अपने अस्तित्व तथा विकाश के लिए जिन उपकरणों पर

सूचो-पत्र

निर्भर करता है या अपने विषय के रूप में जिन भावों को ग्रहण करता है वे ही हैं मानसिक वृत्तियाँ ।
आध्यात्मिक वृत्ति वह सूक्ष्मतम भाव है जो मनुष्य को आनन्द के आवेग में बिह्वल कर देती है। ठीक उसी प्रकार शरीर के अस्तित्व की रक्षा तथा पोषण के लिए अपरिहार्य अनेक प्रकार की शारीरिक वृत्तियाँ हैं। लौकिक जगत में मनुष्य जिन्हें जीवनधारण के लिए उपाय के रूप में ग्रहण करता है उन्हें ही उसकी वृत्ति कहनी चाहिए । उदाहरण के लिए जैसे कोई चिकित्सक है, कोई शिक्षक है, कोई व्यवसायी है। थोड़ा विचार कर देखने से कोई भी सहज ही समझ सकता है, एवं मानने को बाध्य होगा कि वृत्तियों के इस प्रकार के भेद के कारण मनुष्य मनुध्य में भेद दीख पड़ता है। और इसी कारश जिनके सामने कोई ऊंचा आदर्श नहीं रहता वे अधिकांश क्षेत्रों में अपना दल या Group बना लेते हैं। इसका

मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि जो जैसी वृत्ति लेकर चलना चाहता है उसके संवेदन भी वैसे ही हो जाते है। और इस संवेदन तथा मनोवृत्ति की समर्धामता उनका दल संगठित करने में प्रोत्साहित करती है। अपने पेशे के कारण आपस में चाहे कितनी भी ईर्ष्या क्यों न हो पर वकील, वकील का साथ चाहता है। सैनिक, सैनिक का साथ चाहता है। डाक्टर, डाक्टर का साथ चाहता है और साधु, साधु को खोजता फिरता है। जीव की मनोवैज्ञानिक गतिप्रकृति की और अच्छी तरह दृष्टि रखने से यह भी अच्छी तरह समझा जा सकता है कि मानस संवेदन देह के अस्तित्व की रक्षा के लिए जड़ के साथ सम्पकित हेने के कारण जड़ाश्रयी होने को बाध्य होने पर भी उसके सामने चरम आदर्श ठीक रहने पर जड़ भाव मानस भाव में और मानस भाव आध्यात्म रंग में रंग जाते हैं और फलस्वरूप मनुष्य दल या ग्रुप के

भाव से ऊपर उठने की सामर्थ्य पाता हैं। इस अध्यात्मिक आदर्श तथा भूमादृष्टि के अभाव में विभिन्न वृत्तिजीवी समाज के सम्पद न हो कर समाज के शोषक बन जाते हैं। वे यह बात ही भूल जाते हैं कि व्यक्ति वा दल का स्वार्थ, समष्टि स्वार्थ के बाहर की ऊपज छोड़कर कुछ नहीं है। पहले कानूनी पेशेवाले की बात ली जाए। छुआछूत का भूत जिनके सिर पर सबार रहता है ऐसे अतिधार्मिक लोगों के दल में मैं नहीं हूँ। कानूनी पेशेवाले साधारण जनता को ठगकर या उनकी कलह प्रवणता को उत्साहित करके अर्थोपार्जन करते हैं ऐसी धारणा को मैं सत्य का अपलाप समझता हूँ, किन्तु जो ऐसा अभियोग लाते हैं क्या उनकी बात बिल्कुल गलत है? कागज कलम में प्रमाणित न होने पर भी यह बात बिल्कुल सच है कि कानूनीपेशेवालों का एक बड़ा भाग सामाजिक अशान्ति को कायम रखना चाहता है।

किसी राज्य में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के बाद एक वकील ने लेखक को बताया कि जमींदारी प्रथा के समय जमींदार जमींदार और जमींदार प्रजा में प्रायः मामला मुकदमा लगा रहता था और वकीलों को भी कुछ रोजगार मिल जाता था; अब तो प्रजा को अदालत में आने की जरूरत नहीं होती, दीवानी फौजदारी दोनों कम हो गए हैं- विचार कर देखा जाए तो कानूनीपेशेवाले सज्जन ने अपनी जीविका की बात सोचकर ही बात कही व्यक्तिगत जीवन मेंखूब सज्जन हैं; शान्तिप्रिय है किन्तु पेशा की प्रकृति के कारण वे अशान्ति, मारामारी, काटाकाटी की सम्मति करने के लिए उत्साहित थे ।

अपराधी के अपराध की भीषणता जानते हुए भी सुदक्ष वकील केवल रुपयों के लालच से अपनी

बुद्धिमत्ता तथा भाषा के दांवपेंच के द्वारा जब कानून के फंदे से छुड़ाकर अपराधी को वाहर कर लेता है तब वे और चाहे कुछ भी क्यों न करते हों समाज की पवित्रता की रक्षा के काम में निश्चय ही सहायता नहीं करते। जो व्यक्ति केवल व्यक्तिगत स्वार्थ या रुपए कमाने के लिए समाज को इस तरह पाप के पङ्क की ओर ढकेल रहा है वह व्यक्ति भी क्या अन्याय को प्रश्रय देने के कारण समानरूप से अन्यायकारी नहीं है? कानून की नजर में यदि अन्याय के साथ सम्पर्क रखना भी अन्याय में गिना जाता है तो अपराधी के सुधार की व्यवस्था को (मैं दण्डमूलक व्यवस्था शब्द का व्यवहार करने का जरा भी इच्छुक नहीं हूँ; क्यों कि मनुष्य मनुध्य को दण्ड देने का अधिकारी है यह बात मानने को मैं विल्कुल ही तैयार नहीं हूं।) सीमा से बाहर रखने की चेष्टा भी निश्चय ही समाज विरोधी काम है। इस प्रकार की चेष्टा

का और भी एक गुरूतर दोष है। सुधारमूलक व्यवस्था के हाथों से अपराधी के छुटकारा पा जाने से ही न्याय की परिसमाप्ति नहीं हो जाती- ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब प्रकृत अपराधी के वकील निरपराध को दण्डभोग कराकर ही आत्मतृप्ति का अनुभव करते हैं। जो लोग प्रत्यक्ष रूप से निरीह व्यक्ति के दण्डभोग के कारण बनते हैं उनका अपराध आसामी के अपराध से निश्चय ही अनेक गुणा अधिक होगा ।

इतना होने पर भी मैं कहूंगा कि वकीलमुखरों की जरूरत है और इस जरूरत का महत्व कम नहीं है। साधारण मनुष्य अपनी बात बहुतवार अच्छी तरह कह नहीं पाता, विचार काल में डरा हुआ, संत्रस्त आदमी ऐसा आचरण कर बैठता है कि उसके चेहरा मोहरा का

भाव जज के मनमें सन्देह उत्पन्न करता है और यह सन्देह निर्णय को भी प्रभावित करता है। साधारण मनुष्य को इस प्रकार की विपज्जनक परिस्थिति से बचाने के लिए वकीलों की जरूरत को इन्कार नहीं किया जा सकता। केवल निरपराध को बचाना ही नही, अपराधी को भी घृणा तथा पक्षपातपूर्ण भावधारा के कारण विवेकर्राहत रूढ़ दण्डव्यवस्था के हाथों से बचाने के काम में ये वकील विशेषरूप से सहायता करते हैं और कर सकते हैं।

यदि अपराधी का समर्थन करना सहज विरोधी काम हैं तो अपराधी के प्रति समाज के सुविवेचन के लिए आवेदन करना क्या समाज विरोधी काम नहीं कहा जाएगा? मैं कहूँगा-नहीं। वकील का कर्त्तव्य यह देखना

है कि किसी को छोटे अपराध के लिए बड़ा दण्ड न मिले। अपराधी जिस परिस्थिति में पड़ अपराध करने के लिए प्रस्तुत हुआ उसे समझाकर कहना एवं वह अवस्था पैदा करने में अपराधी खुद कितना जिम्मेवार है (या वह बिल्कुल ही इसके लिए जिम्मेवार नहीं है) यह बात जजों के सामने कानून जाननेवाले ही ठीक तरह से रख सकते हैं, यह काम साधारण आदमी का नहीं हैं। अपराधी भी मनुष्य ही है बल्कि न्याय के समय वह एक असहाय मनुष्य है- यह बात ध्यान में रख कर उसके पक्ष का वक्तव्य ठीक तरह से सामने रखना निश्चय ही अपराध नहीं है। इसीलिए जो लोग कानूनी पेशा वालों को समाज के लिए परजीवी समझते हैं उनका समर्थन मैं नही कर सकता। ये समाज के अत्यावश्यक बुद्धिजीवीवर्ग के एक अंश है। वकीलों की आय कम करने के डई श्य से जो लोग अनेक प्रकार की

पंचायत आदि को व्यवस्था चालू करना चाहते हैं उनके उद्‌देश्य की अच्छाई के विषय में कोई सन्देह प्रकट न करते हुए भी मैं कहगा कि वे न्याय व्यवस्था को व्यक्ति विशेष या दल विशेष की धारणाओं पर छोड़ देने की चेष्टा करते हैं। न्याय में जिस सूक्ष्म मनीषा की आवश्यकता है उसकी इस प्रकार की पंचायत के प्रधानों में से अधिकांश से आशा नहीं की जा सकती है।

पंचायत के सदस्यों के निर्वाचन का भार यदि सुविज्ञ जजों के ऊपर छोड़ दिया जाए तो संभव हैं उनसे कुछ उचित न्याय की आशा की जा सकती है किन्तु तब भी उनमें व्यक्तिगत साधुता या विचारशक्ति रहने पर भी कानून का उपयुक्त ज्ञान न होने के कारण वे किसी भी दल को त्र टिपूर्ण फैसला दे सकते हैं। कानून जानने वालों से उतनी त्रुटि संभव है आशा न की जा सके।

कानूनी पेशा वालों को जब्द करने के लिए यदि कोई

व्यापक रूप से पंचायत प्रथा चलाना चाहते है उन्हें भी जनस्वार्थ की दृष्टि से मानना पड़ेगा कि ये पद निर्वाचित न होकर मनोनीत होने चाहिए। तब यदि ऐसी व्यवस्था हो जिसमें निर्वाचन के उम्मीदवार केवल कानून जानने वाले ही हों तो भी बुरा नहीं होगा ।

एक समय था जब कि कानून जानने वालों को सम्मान और पसे दोनों मिलते । आज वे अर्थ के साथ सम्मान भी खो रहे हैं। जिन काननो पेशेवालों का व्यवसाय अच्छा नहीं चलता उनमें से यदि सब नहीं तो अधिकांश लोग राजनीति के मञ्च पर से गरम गरम भाषण देना आरम्भ करते हैं। इनमें से कोई भी जनसेवक नहीं-ऐसा मैं नहीं कहता परन्तु अधिकांश का उद्देश्य देशसेवा नहीं होता है। होता है सम्पूर्ण-रूप से

व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान करना। राजनैतिक प्रतिपत्ति यदि जुट जाए तब तो कहना ही क्या; मन्त्री या पालियामेन्ट का सदस्य हुआ जा सकता है जौर यदि प्रतिपत्ति न भी जुटे तो भी क्षति नहीं क्योंकि अपने पीछे किसी भी राजनैतिक दल का समर्थन रहने से अपने व्यवसाय में कुछ न कुछ सुविधा ही होतीः है। इनके गरमागरम भाषण का उद्देश्य कितना महत्वपूर्ण होता है आज के शिक्षित जनसाधारण को यह समझने में असुविधा नहीं। जरा सा भी अच्छी तरह से जोर करने से ही यह देखा जा सकता है कि गणतान्त्रिक देशों में इसीलिए इन 'ब्रीफलेस' वकील बैरिस्टरों की भीड़ है। जनस्वार्थ के बहाने जनसाधारण के शोषण का ऐसा सुअवसर और किसी दूसरी वृत्ति में नहीं है।

पर इसका कारण क्या है? क्या इस तरह के कपटाचरण या मानसिक अधोगति के लिए वे ही सोलहो आने दोषो हैं? निश्चय ही नहीं। उन्हें मैं एक आना भी दोष नहीं देता। साधारणतः अभावग्रस्त बुद्धिजीवी लोग चोरी डकैती न करके इस तरह की मनोबैज्ञानिक पद्धति से रोटी कपड़े की व्यवस्था कर लेते हैं।

समाज की आर्थिक उन्नति की दूसरी परिकल्पनाओं का व्यवहारिक रूप देने के साथ-साथ कानून के व्यवसाय में भीड़ कम करने के लिए भी व्यवस्था करनी पड़ेगी । शिक्षा व्यवस्था में विद्यार्थियों को सबसे अधिक विज्ञान और शिल्प को, उसके बाद वाणिज्य को आर कला को उससे भी कम उत्साह देना होगा अर्थात कलाशिक्षा में (Arts Subject) जिन छात्रों का आग्रह हो

उनमें से खूब मेधावी छात्रों को ही अवसर देना होगा और उनमें से बहुत थोड़ लोगों को- समाजतत्व, नागरिकतत्व, राष्ट्रविज्ञान और तर्कशास्त्र के विधानों में पारदर्शिता दिखाने पर कान्न पढ़ने का अवसर देकर इस व्यवसाय में अनुचित भीड़ बढ़ाकर दुर्नीति को प्रश्रय देना किसी प्रकार उचित नहीं है।

चिकित्सक :

'शतमारी भवेद्द्द्यः सहस्रमारी चिकित्सकः ।' यह सुनकर हँसी तो भातो है पर बात सच है। बूढ़े नाई की तरह छोकड़े डाक्टर का भी विश्वास नहीं किया जाता। पर ऐसा अभियोग यहीं समाप्त नहीं हो जाता। मारने का काम तो चुहे और खरगोश के ऊपर चला कर भी शतमारी और सहस्रमारी हुआ जा सकता है। किन्तु बैद्य

या चिकित्सक होने के बाद भी यदि मारने का काम चलता ही रहे तो क्या यह भयङ्कर बात नहीं है? आप चाहे किसी देश के निवासी हों कितने डाक्टरों पर आप विश्वास या श्रद्धा रखकर चल सकते हैं। आपके परिचित अनेक डाक्टरों में से बहुत हों तो एकाध पर आपकी आस्था हो सकती है। इनमें भी जिन पर आस्था है उन पर श्रद्धा हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। जिस डाक्टर के पास आपका रोगी नीरोग हो सकता था ऐसी आपकी धारणा हो पर धन की कभी के कारण अप उससे चिकित्सा नहीं करा पाएँ- ऐसी अवस्था में डाक्टर की योग्यता में सम्भव है आपकी आस्था ठीक ही रही हो पर आप उसे अपना बन्धु नहीं समझ सकें या उसके मानवताबोध के सम्वन्ध में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण पाने का अवसर आपको नहीं मिला । और फलतः आप उस पर श्रद्धा भी नहीं कर सके। और

डाक्टर का पेशा ऐसा है कि इसमें जितना पेशा नहीं है उससे ज्यादा समाजसेवा है। बल्कि इसमें समाजसेवा ही मुख्य बात है। पर समाजसेवा करने वाले हवा पीकर तो नहीं जी सकते - अतः डाक्टर को सरकार, स्वायत्तशासित प्रतिष्ठान, जनकल्याणकारी संस्थाए अथवा जनसाधारण से अर्थात् जिसकी सेवा की है उससे अपने रोटी कपड़े के लिए कुछ द्रव्य लेना ही पड़ता है। इस प्रकार चिकित्सक का काम जिसकी कोई दूसरी जीविका नहीं हो ऐसे आदमी के लिए जीविका तो हो सकता है पर उसे किसी भी तरह व्यवसाय नहीं बनाया जा सकता । किसी के पास आर्थिक सामाजिक या बौद्धिक धन कितना भी क्यों न हो, असहाय मनुध्य चिकित्सक को वह अन्धकार में प्रकाश की किरण की तरह देखता है, डूवता हुआ आदमी के लिये जैसे

लाइफबेल्ट को देखना है- यह आदर्शवाद यह कर्त्तव्यनिष्ठा कितने चिकित्सकों में देख पाते हैं ?

किसी डाक्टर के पास आइये, वे आपको छोटे से रोग के लिए बड़ा प्रेसकृप्शन देंगे। अपनी डिस्टेंसरी हो तब तो कोई बात ही नहीं, चेम्बर प्रैक्टिस करने पर भी वही एक ही हाल - रोगी के सिर पर पेटेन्ट दवाइयाँ थोपना ही होगा। मिक्श्चर नहीं दिया जायगा तब कैसे चलेगा? क्यों कि वह तो बंधी बंधाई बात है। मैं यहां खासकर ऐलोपैथों की बात ही कह रहा हूं और बड़े मजे की बात तो यह है कि ये केवल अन्दाज में ही रोग पकड़ते हैं। खून, पैखाना, पेशाब की जाँच के वाद प्रायः ही देखा जाता है कि उनका अन्दाज विलकुल गलत था। बहम पूरा करने के लिए रोगी को दबाई निगलनी पड़ती है।

सूचो-पत्र

है? असहायों को लेकर यह कैसी रसिकता है ? और उनके अन्दाज का कैसी शोचनीय अवस्था

संसार में आज प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। पहली है सबसे अधिक प्रचलित स्थूल रूप से दबाइयाँ व्यवहार कर या सूई देकर रोग के विरूद्ध संग्राम करना। एलोपैथी, आयुर्वेद और हकीमी ये तीनों इसी श्रीणी में अ.ती हैं क्योंकि रोग निर्धारण या निदान के सम्बन्ध में इनमें आपस में मतमेद रहने पर भी स्थूल रूप से दबाइयाँ व्यवहार करने एवं दवाइयों की दृष्टि से विष का प्रयोग करना इन तीनों में ही खूब प्रचलित है। पर रोगी के लक्षण की ओर न देखकर रोग के लक्षणों को मुख्यरूप से देखने के कारण दवा निश्चित करने में इन्हें

बिल्कुल अटकलबाजी करनी पड़ती है। दूसरे किसी क्षेत्र में अटकलबाजी को अपेक्षा चिकित्सा करने में अटकलबाजी से विपद की संभावना अधिक है- क्योंकि इसमें मनुष्य के जीने-मरने की समस्या लगी हुई है।

रोग के जीवाणुओं या रोग के ऊपर निर्भर कर व्यवस्थापत्र देने में सबसे बड़ी विपत्ति यह है कि जीवाणु के स्वरूप के विषय में कोई स्थिर सिद्धान्त पर पहुंचना प्रायः असम्भव है। इसके अतिरिक्त जीवाणुओं के कारण रोग होते है अथवा अन्य किसी कारण रोग का संक्रमण होने पर ये रोग जीवाणु सृष्ट होते हैं- यह स्वयं तर्क का विषय है।

रोग के बाहरी लक्षण एकाधिक रोग में एक ही तरह के हो सकते हैं। अतः एक रोग के लिए प्रस्तुत की गई दबा दूसरे रोग में बिल्कुल निष्फल प्रमाणित हो सकती या दूसरे रोग में वह हानिकारक भी हो सकती है; उस पर दवा के रूप में बिष का प्रयोग किये जाने पर तो उससे रोगी को जीवनी शक्ति पर बड़ा आघात लग सकता है। अब विचार कर देखें यदि चिकित्सक में योग्यता का अभाव हो या वे पूरी तरह से व्यवसाय की मानसिकता से परिचालित हो तो जनसाधारण की अवस्था कैसी होगी ? एक समय था जब बायुपित्त कफ आदि के आधारपर रोग का निर्धारण अथवा उसके साथ रक्त को भी एक धातु के रूप में ग्रहण कर योग निदान या व्यवस्था पत्र देने में असुविधा नहीं होती थी किन्तु मनुष्य की शरीर तथा ग्रन्थिगत जटिलता बढ़ने के साथ-साथ रोग में भी जटिलता एवं रोगों की सख्या भी

बढ़ गई है। अतः त्रिदोष या चतुर्दोषगत रोग निर्धारण आज के पुग में चिकित्सक को कहाँ तक सहायता दे सकता है इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। जहाँ दवा तो रोग के आधार पर प्रयुक्त की जाती हो और रोग का निर्धारण धातु के आधार पर होता हो वहाँ किसी भी रोग के विरुद्‍ध दवा प्रयोग करना क्या बहुत कुछ अन्धरे में ढेला फेंकने जैसा नहीं है। यदि किसी एलोपैथी, कविराज या हकीम को ठीक वही बात कही जाए तो संभव है वह अपना स्टेथिस्कोप या खरल आपके हाथों थमाकर कहें कि "भाई, तब आप ही चिकित्सा करें। अवश्य हो यह क्रोध की बात होगी। किसी चिकित्सक को कोई साधारण व्यक्ति परामर्श देने की घृष्टतता करे यह अधिकार तो अवश्य ही स्वीकार नहीं करूंगा पर उसके साथ हो यह भी जरूर कहूंगा कि किसी

भी चिकित्सा पद्धति के गुण दोषों के विचार करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य का है।

चिकित्सा :-

होमियोपैथिक चिकित्सा प्रथमोक्त पद्धति से पूर्ण रूप से भिन्न नीति प्रयोग तथा दर्शन पर आश्रित है। हामियोपैथी की चिकित्सा रोग या रोग के लक्षणों की चिकित्सा नहीं है वह है रोगो के लक्षणों की चिकित्सा इसलिए इससे रोगनिर्धारण (Diagnosis) ठीक-ठीक न हो सकने पर भी किसी हानि की सम्भावना नहीं है। सूक्ष्म विचारबुद्धि और तीक्ष्णदृष्टि- ये दो अगर चिकित्सक में है तो वह रोगी के लक्षण देखकर अनायास ही रोगी को व्यवस्था-पत्र दे सकता है। हामियोपैथी को दूसरी विशेषता है इसकी दवाइयाँ को मात्रा। इसमें दवा

सूक्ष्ममात्रा में प्रयोग की जाती है स्थूलमात्रा में नहीं और यह सहज में ही रोगीदेह के अणुपरमाणु में एवं मानसभूमि में क्रियाशील हो उठती है।

किन्तु हामियोपैथी में सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि जिस सूक्ष्म मनीषा पर इसकी प्रतिष्ठा हुई है उसे अर्जित करने के लिए ठीक ढंग की साधना की जरूरत है। और हामियोपैथी की चिकित्सां में चिकित्सक की योग्यता की दृष्टि से सबसे अधिक शिथिलता दीख पड़ती है। कोई भी दो एक किताबें लेकर डाक्टर बन जा सकता है। देखने सुननेवाला कोई नहीं- अधिकांश देशों में इसके नियंत्रण की भी कोई अच्छी व्यवस्था नहीं है।

होमियोपैथिक सिद्धान्तों के अनुसार शल्यचिकित्सा या सूई (Injection) का प्रयोग करना ग्राह्य नहीं है। पर खास खास अवस्थाओं में सूई का प्रयोग न सही 'पर शल्यकरण एवं शिल्य करण की आवश्यकता अस्वीकार नहीं की जा सकती । आजकल होमियोपैथी चिकित्सा में शल्यकरण की आवश्यकता धीरे धीरे स्वीकार की जा रही है और यह निःसन्देह शुभ लक्षण है ।

प्राकृतिक चिकित्सक औषध के रूप में कुछ भी ग्रहण करने के विरोधी हैं। उनके सिद्धान्त में प्रकृति की दी हुई मिट्टी, पानी, धूप, ताप, हवा आदि की सहायता से एवं उपयुक्त पथ्य के निर्वाचन के द्वारा ही व्याधि से मुक्ति मिल सकती है। इसकी सम्भावना मैं अस्वीकार नहीं करता। तब यह बात भी सच है कि इस प्रकार धीरे

धीरे देहयन्त्र को पूर्णरूप से प्रकृति के अनुरूप करने के लिए अनेक अवस्थाओं में कुछ वेग आवश्यक है। इस बात में सब एकमत हैं कि औषधि से रोग दूर नहीं होते-प्रकृति को रोगनिरोधक शक्ति की सहायता से ही वे दूर होते हैं। औषधि इस क्रिया-शीलता की सहायता करती है और द्रुति लाती है। जहाँ प्रकृतविरोधी काम से ही रोग का उद्भव हुआ है वहाँ प्रकृति को सहायता करने के लिए आवश्यक हो तो औषध का प्रयोग करने में क्या दोष है, मैं समझ नहीं पाता। मिट्टी, पानी, धूप, हवा क्या प्राकृतिक उपकरणों से बने हुए नहीं हैं ? तब हाँ, रोगनिवारक शक्ति के सहायक के रूप में औषध के प्रयोग के समय यह सतर्कता आवश्यक है कि वे औषध सहायक की भूमिका में आकर बाद में कोई दैहिक विकलता या अस्वस्ति का कोई कारण न रख जाए। ऐसे भी बहुतेरे रोग हो सकते हैं जिनमें

व्यक्तिविशेष ने प्राकृतिक शक्ति के विरूद्ध आचरण नहीं किया बल्कि रोग आया हो वायु, मिट्टी या पानी के दोष से -ऐसी हालत में रोगी को प्रकृति का अनुगमन कराने का प्रश्न कहाँ उठता ? इसके अतिरिक्त प्राकृतिक चिकित्सा में रोगी के लिए जो सब पथ्य दिए जाते हैं या मालिश की व्यवस्था दी जातो है वह बहुत बार इतनी व्ययसाध्य होती है कि दरिद्रों के लिए तो नहीं ही हो सकती ।

'आपश्च विश्वभेषजी' ऋग्वेग की इस उक्ति के साथ मेरा कोई मतभेद नहीं। जलचिकित्सा (Hydropathy) एवं प्राकृतिक चिकित्सा के अन्यान्य प्रत्येक अंग के प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है; पर औषधमात्र ही खराब है या शल्यकरण (opreration) मात्र हानिकारक है इस मतवाद के पीछे कोई युक्ति नहीं खोज पाता ।

जितने लोग बिना चिकित्सा के मरते हैं उससे कहीं अधिक लोग चिकित्सा के कारण मरते है - यह बात मानने के लिए भी मैं तैयार नहीं हूं क्योकि रोग की चरम अवस्था में अत्यन्त दरिद्र व्यक्ति भी या तो कुछ न कुछ चिकित्सा की व्यवस्था करते हैं या नहीं तो चिकित्सा कराने की चेष्टा ही करते हैं। औषध व्यवहार करके जितने लोग मरते हैं उससे ज्यादा औषध व्यवहार में मरते हैं इस सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं कहना चाहता; पर चिकित्सक की शरण में जाकर भी लोग मरते है उनमें से बड़ा अंश रोग निर्धारण या औषध के निर्वाचन की भूल के कारण मौत के मुंह में जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं। रोग निर्धारण की भूल की बदनामी तो सब पैथियों को समान रूप से लेनी होगी पर औषध निर्वाचन की भूल के कारण जो मृत्यु होती है उसके लिए मैं

समझता हूँ स्थूलमात्रा में औषध व्यवहार कराने वालों की भूल की मात्रा ही अधिक है।

किसो विशेष 'पंथी' के सिद्धान्तों अथवा युक्तियों की सारवत्ता को अधिक महत्त्व न देकर रोगो-कल्याण ही चिकित्सा का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। चिकित्सक-विशेष के लिए इस प्रकार की नीति का अनुसरण करने में कुछ असुविधा हो सकती है क्योंकि सब चिकित्सक सब तरह की चिकित्साओं में निपुण हो ऐसी आशा नहीं की जा सकती । व्यवहारिक क्षेत्र में यह सम्भव भी नहीं है। पर चिकित्सक विशेष के चेम्वर में यदि यह असम्भव हो तो भी अस्पतालों में तो यह सम्भव हो ही सकता है। अनेक देशों में रोगी के कल्याण का प्रधान लक्ष्य रख कर अस्पतालों में काम भी होता है। अस्पताल में रोगी के आते ही संश्लिष्ट बोर्ड रोगी की

यथोचित परीक्षा करके उपयुक्त 'पंथी' की व्यवस्था कर देता है, जो रोग ऐलोपैथी चिकित्सा के द्वारा आसानी से दूर किया जा सकता है उसे एलोपैथी चिकित्सा में, इसी तरह किसी को होमियोपैथी में किसी को प्राकृतिक चिकित्सा में रखा जा सकता है। पास-पास में विभिन्न प्रकार की चिकित्सा की व्यवस्था रहने से कोई विशेष प्रकार का रोगी उचित लाभ न पाए तो उसके लिए चिकित्सा पद्धति बदलना असम्भव नहीं होगा ।

प्राकृतिक शक्ति ही रोग हटाती है औषध केवल उसकी सहायता भर करता है। और इस प्राकृतिक शक्ति को अपना काम करने में रोगी का मन बहुत दूर तक सहायता करता है। जिस चिकित्सक पर विश्वास हो वह यदि दवा कह कर पानी ही दे-दे उससे भी रोगियों के

रोग चंगा हो जाता है और एक अर्वाचीन चिकित्सक की चिकित्सा-शास्त्र के अनुकूल विशुद्ध औषध की व्यवस्था से भी रोग दूर नहीं होता। यहाँ मनके गुण से ही रोग दूर होता है, दवा बिल्कुल ही गौण हो जाती है। कुछ कट्टर मनो-वैज्ञानिक समझते है कि मानसिक चिकित्सा से ही सारे रोग दूर होते हैं-मैं उनका समर्थन नहीं कर सकता। मानसिक चिकित्सा क्रम सर्वत्र काम नहीं देता या यों कहें कि सव जगह काम नहीं दे सकता।

भाववादियों की तरह जो सोचते हैं कि मन ही सब कुछ है, पञ्चभूत नहीं (जिसके सम्बन्ध में लेनिन ने कहा है कि इनके अनुसार माथा नहीं किन्तु बुद्धि है) वे सब रोगों के कारण के रूपमें मन की ही बात कहते हैं; परन्तु क्या मनुष्य का अस्तित्व केवल मन को लेकर ही है ? पञ्चभौतिक देह में चींटी काटने से जो मन चञ्चल हो उठता है वह मन क्या पञ्चभौतिक देह पर निर्भर

नहीं है। भाँग, गाँजा, अफीम या शराब के व्यवहार के कारण मन में विभिन्न प्रकार का परिवत्तन दीख पड़ता है। देह तथा स्नायुतन्तुओं पर मन की निर्भरशीलता का यह एक अच्छा प्रमाण है। अतः रोग जैसे मन का भी हो सकता है और देह का भी हो सकता है उसी प्रकार औषध भी मानसिक हो सकता है और पञ्चभौतिक भी हो सकता है एवं शारीरिक और मानसिक निविशेष सब रोगों के लिए दोनों प्रकार की चिकित्सा का एक साथ प्रयोग करना अधिक उपयोगी एवं फल प्रद है। मानसिक रोग में जो लोग केवल मानसिक चिकित्सा के पक्षपाती हैं वे अपनी जानकारी से अवश्य समझते हैं कि उनकी व्यवस्था से स्थायीरूप से रोग नहीं मिटता। थोड़े दिनों में ही रोग फिर उमड़ जाता है। किन्तु जहाँ मानसिक व्यवस्था के साथ औषध पथ्य आदि की व्यवस्था के साथ स्नान, आहार एवं आचरणगत संयम की व्यवस्था

दी जाती है एवं मानसिक व्याधि के कारण स्थूलरूप से देह की जिन ग्रन्थियों में निहित हो उनमें स्वाभाविकता लाने के लिए यथावश्यक पञ्चभूत सृष्ट औषधकी ब्यवस्था दी जाती हैं केवल उसी अवस्था में रोग की आत्यन्तिक निवृत्ति हो पाती है।

ठीक उसी प्रकार यदि शारीरिक व्याधि में रोगी के लिए उपयुक्त औषधि पथ्य और प्रकाश, हवा आदि की उचित व्यवस्था दी जाए पर उसे प्रतिदिन लाञ्छना गञ्जन में रहना पड़े उस अवस्था में उस का रोग हट कर भी नहीं हटता। जिसे खाने पीने आदि किसी प्रकार का कोई अभाव नहीं वह भी मानसिक अशान्ति से, कीटदष्ट फूल की तरह सूख जाता है। अर्थात् स्थूल रोग में भी उपयुक्त मानसिक चिकित्सा या मानसिक

स्वस्थता की रक्षा के योग्य उपयुक्त परिवेश की आवश्यकता है।

रोग दूर करने में जहाँ तक औषध काम करता है उससे अधिक रोगी का विश्वास काम करता है। पर यह विश्वास रोगी में आएगा कहाँ से ? चिकित्सा तथा नर्स को अपने काम तथा आचरण से यह विश्वास अर्जन कर लेना पड़ेगा या रोगी में मन से यह विश्वास जागृत करना होगा। मिट्टी काटनेवाला मजदूर मिट्टी काटने के काम को अपना पेशा समझता है और मिट्टी के ऊपर किसी तरह की ममता न रख कर कुदाल चलाता जाता है। चिकित्सक और रोगी का ठीक यही सम्बन्ध नहीं चल सकता । चिकित्सक को हृदय का सम्पूर्ण माधुर्य दोनो हाथों से रोगी को सौंप कर उसे अपनाना होगा।

चिकित्सक या नर्स यदि कहें कि अतिरिक्त कार्यभार के कारण लोगों के मन की सारी सुकुमारता, सारी कोमलता तथा सारा माधुर्य खो गया है तो यह किसो भी देश या सरकार के लिए कोई गौरव की बात नहीं होगी।

कार्यभार से निष्ठुर यन्त्र सा बन ज.ना और मनुष्यत्व खो कर असाधु व्यवसायियों के साथ षड्यन्त्र करके अस्पताल की दवाइयाँ चोरबाजार में बेच देना, रोगी के लिए आया हुआ खाद्य, फल तथा दूध को अवैधरूप से काम में लाना निश्चय ही ये एक बात नहीं है। जिन चिकित्सक या नर्सों के विरूद्ध इस प्रकार के अभियोग लाए जाते हैं उनके पास अपने समर्थन के लिए क्या रहता है? ये सब असाधु, समाजशोषक, पिशाचों के काम से विरक्त होकर जनसाधारण अनेक बार सरकार की विरोधी आलोचना करता है पर मेरे ख्याल से इन कार्यों में सरकार अधिकतया निर्दोष रहती है। यदि वह इन

क्षेत्रों में व्यय करने में क जूसी करे तो अलग बात है पर अधिकतर क्षेत्रों में ऐसी बात नहीं रहती । चिकित्सा विभाग में जहाँ भी जनसाधारण कष्ट भोग करता है वहीं दीख पड़ेगा कि ऊपर से नीचे तक (मेडिकल आफीसर से लेकर मेहतर और अर्दली तक) एक पापचक्र चल रहा है, 'चोर चोर मौसेरा भाई' का सम्बन्ध चल रहा है पद मर्यादा का विचार न रखकर । शोषण में सभी सिद्‌धहस्त हैं घूस में सभी साझेदार हैं। कहना व्यर्थ है कि इस परिवेश में चिकित्सक या चिकित्सालय रोगी के मन में किसी तरह आस्था या विश्वास का भाव नहीं बैठा सकते। इसीलिए आज बीसवी शताब्दी का प्रथमाद्‌ध बीत जाने पर भी संसार के अनेक देशों में जनसाधारण कभी भी अस्पताल से जेल के समान ही भय पाता है।

बाघ छूने से जैसे घाव हो जाता है उसी तरह वह डाक्टर के छूत से दूर रहने की चेष्टा करता है क्यों कि जो डाक्टर चेम्बर प्रक्टिस करते है वे तो खैर पद का निर्वाह करते है पर जो खुद ही पेटेन्ट दवाइयों की डाली सजाए बैठे हैं वे कारण अकारण रोगी को दस बीस रुपयों की दवाइयाँ खरीदवाए बिना नहीं छोड़ते । ये बातें सुनने में खराब लगती है पर जो भुक्तभोगी हैं वे मेरी बात का समर्थन करेंगे ।

हमलोगों के अभियोग का अन्त नहीं है। समाज के सब क्षेत्रों में षड्यन्त्र की विभीषिका फैली है। रोगी सबसे असहाय होता है; अतः जो रोगी के दुखत्राता के रूप में उनके सामने आते हैं उनमें त्रुटि देखकर हम लोगों को सबसे अधिक दुख होता है, और अभियोग भी सबसे

अधिक करते हैं। और अभियोग करते हुए डाक्टरों और नर्सों के वास्तविक जीवन में जो असुविधाएं हैं उन्हें बिल्कुल भूल जाते हैं। रोगी के रूप में समालोचना न करके यदि मनुष्य के रूप में समालोचना करें तो सम्भव है दीख पड़े कि जिनके विरूद्ध अभियोग की लम्बी सूची करते हैं उन्हें जान बूझकर हो या अनजान से हो हमलोगों का ही समाज समाजविरोधी काम में लिप्त होने को प्रेरित करता है। इस समाजविरोधी परिवेश में रहते हुए भी जो चिकित्सक आज भी रोगी के सच्चे बन्धु के रूप एवं समाज के सच्चे सेवक के रूप में काम करते चलते हैं वे वन्दनीय हैं। किन्तु जो वैसा नहीं कर पाते, जो पाप के पङ्क में फंसे हुए हैं- जिन्हें समाजविरोधी पिशाच छोड़ कर और कुछ नहीं कह सकते, क्या उनके सम्बन्ध में भी हमारे कहने लायक कुछ नहीं है ? अपराध-विज्ञान के अनुसार इनमें

अभावगत और स्वभावगत दोनों तरह के अपराधी हैं। उपयुक्त शिक्षा, आदर्श और परिवेश सृष्टि के द्वारा इनके लिए सुधारमूलक व्यवस्था लेनी चाहिए। एक साधारण अपराधी समाज को जितना क्षतिग्रस्त कर सकता है एक असाधु चिकित्सक या नर्स समाज के लिए उससे अधिक हानिकारक है। क्योंकि वे प्रत्यक्ष रूप से समाज की तो हानि पहुंचा ही रहे हैं इससे अधिक समाजकल्याण करने की विशेष योग्यता के अधिकारी होकर भी अपने योग्यसमाज की सेवा न कर समाज का बोझ ही बढ़ा रहे हैं। मनुष्य का दर्दीला हृदय लेकर इनके विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए एवं इनकी असुविधाए अविलम्ब दूर करनो चाहिए ।

सूचो-पत्र

मैं एक सच्चे सत् एवं आदर्श चिकित्सक को जानता हूँ जिन्हें जीवन के अन्तिम दिनों में अर्थाभाव के कारण बहुत कष्ट झेलने पड़े थे। जब वे समर्थ थे, उन्होंने समाज-पिता की तरह आदर्श चिकित्सक के रूप में समाज सेवा में प्राण उड़ल दिया था पर अक्षम होने पर समाज ने उन्हें नहीं देखा । इन प्रकार की घटनाएँ देखकर यदि तरुण चिकित्सकों को अर्थलोलुप होने के लिए प्रेरणा मिले तो इसमें आश्चर्य करने का कोई विशेष कारण नहीं। मैंने ऐसे अनेक डाक्टर देखा है जो रोगी के साथ खिलवाड़ तो नहीं ही कर सकते थे, गरीब रोगियों की फीस हा माफ नहीं कर देते थे बल्कि साथ ही बहुत बार दवा का दाम भी छोड़ देते थे। और रोगी समझते थे कि डाक्टर बिना पैसों के दवा देता है, जरूर उसका कोई मतलब हैं और ऐसा सोच कर ऐसे डाक्टरों के पास जाना नहीं चाहते। इनमें से कई को ट्युशन

करके अपना परिवार चलाना पड़ता था। इसीलिए लोगों को कहते सुना जाता है- डाक्टरी भी एक व्यवसाय है और व्यवसाय के बाजार में कुछ इधर उधर नहीं करने से नहीं चलता। खूब सत् होने से व्यवसाय नहीं चलाया जा सकता ।

एक पुरानी बात याद पड़ी १९४० साल में कलकत्ता में एक होमियोपैथी चिकित्सालय खोला गया था। साथ में बारह, तेरह वर्ष का एक लड़का था। लड़का मेरे परिचित सज्जन का छोटा भाई था। इसी के लिए दवा लेने गया था। चिकित्सक ने अच्छी तरह यत्नपूर्वक परीक्षा करके दवा दी और मुझे आगामी शनिवार की शाम को आकर रिपोर्ट देने को कहा। मैंने उनसे पूछा कि शनिवार की सुबह या सोमवार की सुबह रिपोर्ट देने से काम चल

सकता है या नहीं। क्योंकि मैं शनिवार को बाहर अर्थात् अपने घर जाने वाला हूँ। उन्होंने पूछा-आप का घर कहाँ है ? बातों ही बातों में मालूम हुआ कि एक ही जिला में, एक ही नदी के दो किनारे दो थानों में हम दोनों के घर थे। तब उन्होंने मुझ से दवा वापस माँगी और कहा आपको दूसरी दवा देता हूँ। बात क्या है पूछने पर उन्होंने मुझे वताया दबा तो दोनों ही अच्छी है, तब पहली दवा हमलोग अपरिचितों को देते हैं, क्योंकि उससे रोग दूर होने में कुछ अधिक समय लगता है, हमलोगों की दवा भी अधिक बिकती है। बीच बीच में रोगी के घर पर बुलाहट होती है। क्या करें अभाव में स्वभाव नष्ट होने वाली बात है ।

यह घटना न तो डाक्टर के लिए और न समाज के लिए ही पौरुष की है। चिकित्सक ने स्वभाव नष्ट किया अभाव की मार से और अभाव उत्पन्न हुआ है सामाजिक व्यवस्था के ही दोष से न ! मनुष्य के जीवन-मरण की समस्या को लेकर जिनका कारवार है उनमें आर्थिक दीनता रहना किसी भी तरह से वाञ्छनीय नहीं है यह बात कोई भो मनोवैज्ञानिक स्वीकार करेगा। किसी देश की जनता यदि सोचे कि उसके देश में आवश्यकता की अपेक्षा चिकित्सकों की संख्या अधिक है तो उस देश में चिकित्सा शास्त्र के शिक्षण पर कड़े नियन्त्रण की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि केवल विशेष योग्यता वाले मेधावी छात्र ही चिकित्सक बनने का अवसर पा सकें। इससे अनावश्यक चिकित्सकों की भीड़ कमेगी और जो चिकित्सा-वृत्ति ग्रहण करेंगे वे

समाज या राष्ट्र की सहयोगिता से यथोपयुक्त परिमाण में धन उपार्जन करने में समर्थ होंगे। अभाव न रहने से स्वभाव नष्ट होने की सम्भावना भी नहीं रह जाएगी। पर आज संसार की अवस्था क्या है ? आवश्यकता से अधिक चिकित्सक कितने देशों में हैं? अधिकांश देशों में अच्छे चिकित्सकों का अभाव है। जिन देशों में अच्छे चिकित्सकों का अभाव नहीं रुपया कम है उन देशों में भी अधिकांश क्षेत्रों मैं जनसाधारण अर्थाभाव के कारण चिकित्सक की सहायता लेने में समर्थ नहीं होता और फलतः योग्य चिकित्सक भी अर्थाभाव से कष्ट झेलते हैं और यह अर्थाभाव ही उन्हें समाजविरोधी कार्यों में लिप्त होने को प्रेरित करता है। चिकित्सक की आर्थिक दुर्गति दूर करने के लिए एक सामयिक व्यवस्था ली जा सकती है। जिस देश में चिकित्सकों की संख्या यथेष्ट है पर वे अर्थाभाव के कारण कष्ट पा रहे हैं उस देश से ऐसे

तरुण चिकित्सकों को जिन्द देशों में चिकित्सकों का अभाव हो वहाँ भेजकर समाज सेवा तथा अपनी जीविका का सुअवसर देना चाहिए । उनकी कूप मण्डूकता दूर करने के लिए कुछ प्रचार कार्य की भो आवश्यकता है।

जैसे अपराधी अनेक प्रकार के हैं वैसे ही ये अपराधी चिकित्सक भी अनेक प्रकार के हैं। अभावग्रस्त अपरधियों की तरह स्वभावगत अपराधियों की संख्या भी चिकित्सक समाज में थोड़ी नहीं है। ये विशाल चिकित्सक (लोक-भाषा में चमार डाक्टर) समाज के पक्ष में विभीषिका के रूप में हैं। ये अनेक समय ऐसे आचरण (वह भी असहाय लोगों के साथ) करते हैं- केवल मुँह देखकर मुमूर्पू रोगी का भाग्य लेकर ऐसा खिलवाड़ करते हैं कि उन्हें मनुष्य के रूप में स्वीकार

करते हुए भी घृणा मालूम होती है। इस प्रकार के नरक के कीड़े छोटे बड़े प्रायः सब शहरों में थोड़े बहुत दीख पड़ते हैं। समाज, राष्ट्र, जन हितकारी समाज-हितैषी चिकित्सक मण्डली की सहयोगिता से इनके विरुद्ध अच्छी कठोर व्यवस्था अविलम्ब की जानी चाहिए । ऐसे डाक्टरों के विषय में भी सुना है जिन्होंने रोगी की खाट के पास खड़े होकर गम्भीर भाव में कहा है कि मुझे अभी रुपये देने होंगे, किसी तरह का उज्त्र; आपत्ति सुनने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। दुःख में पड़े रोगी के आत्मीय मुझयि मुख से घर से बाहर चले गए हैं और हैंडनोट लिख कर रुपये कर्ज लेकर डाक्टर का पावना चुका दिया है। जिन देशों में इन नरपिशाचों के विरुद्ध कठोर से कठोर संशोधनी व्यवस्था नहीं ली गई है उन देशों को सभ्य देश कहने में मुझे बड़ी कुंठा मालूम होती है।

सूचो-पत्र

दूसरे की आंखों से नहीं अपनी आँखों से मैंने एक सुशिक्षित चिकित्सक को चौदह आने के बदले बारह आने दवा की कीमत देने चाहने पर रोगियों के हाथ से दवा की शीशी छीनते हुए देखा है और कहते सुना है कि तुम घर से दो आने ला दोगी क्या इस अपेक्षा में मैं बैठा रहूंगा, मेडिकल कालेज में पढ़ने के समय फीस बाकी रखने पर क्या मुझे वे लोग पढ़ने देते। वह रोगिनी अशिक्षित, गंवार थी, संभव है वह इस बात का अर्थ न समझती हो पर उसे धक्के खाकर रोते-रोते दवा की शीशी फेंककर चला जाना पड़ा था। घटना बहुत पुरानी है पर मैं इस दृश्य को भूल नहीं पाता ।

सत् और असत् सब जगह है तव दुख की बात यही है कि असत् की भीड़ में सत् खो गए हैं। चिकित्सक मण्डली को वृहत्तर समाज के एक क्षुद्र प्रतिफलन के रूप में देखने पर भी ठीक यही सत्य प्रकट होता है। एक ओर सुयोग्य चिकित्सक को बिना बुलाये केवल सुनकर दुःख में पड़े रोगी के पास जाकर उसके लिए प्राण उड़ेलते भी देखा है और अर्वाचीन अज्ञ चिकित्सक का आस्फोट भी देखा है।

ये सब दुःख की बातें हैं पर मैं नहीं समझता कि इससे मनुष्य को निराश हो जाने का कोई कारण है। चिकित्सा व्यवस्था के विरुद्ध हम लोगों के अभियोग अनुयोग की संख्या अजस्र है। उनकी पूरी सूची देने से बहुत कागज और स्याही नष्ट करनी होगी। संक्षेप में

कहें जैसे कम्पाउण्डर को घूस न देने पर खांटी औषध के बदले और कुछ लेना पड़ेगा, मेहतर, वार्डवाय और नर्स को कुछ टिप्स न देने पर आवश्यक सेवा और सहायता नहीं मिलती, बल्कि यन्त्रणा कातर होने पर कड़वी बातें सुननी पड़ती हैं, डाक्टर को कम से कम एक बार भिजिट देकर घर नहीं लाने से अस्पताल में स्थान का अभाव होता है। अस्पताल में जो औषध नहीं है ऐसा सुना जाता है वही औषध पिछले दरवाजे से निकल कर पेटेन्ट दवाइयों की दुकान से आश्रय लेती है; डाक्टर को घूस न देने पर अस्वस्थ आदमी अस्वस्थों की सूची में नाम नहीं पाता है; नौकरी से पहले स्वास्थ्य परीक्षा के समय ऊपर से लेकर नीचे तक हरेक हाथ पसारे रहता है, चिकित्सक के साथ सम्बन्ध बिगड़े रहने पर दुकानदार का चश्मा बिक्री के लिये आँख की परीक्षा में बहुतों को फेल होना पड़ता है, रोगी के लिए जिस कीमत

का या जितना खाद्य निकाला जाता है उससे भिन्न मूल्य का या मान का दिया जाता है। रोगी के लिए निर्दिष्ट दूध और फल में रोगी का भोग न लगकर अस्पताल के कर्मचारियों का भोग लगता है; दवा और इन्जेक्शन में मिलावट के ऐसे कितने ही अभियोग सुने जाते हैं। कोई-कोई तो इतने निम्न दायित्व-ज्ञान-हीनता के परिचायक हैं कि उस पर विश्वास करने की प्रवृत्ति ही नहीं होती । इन दोषी या त्रुटियों के लिए साधारणतः लोग सरकार पर ही दोष मढ़ते हैं, पर मैं समझता हूँ इसके लिए किसी का कोई दोष है तो वह है जनसाधारण का । सरकार नाम का कोई खास व्यक्ति तो है नहीं जो घूस लेगा, दुर्नीत को प्रश्रय देगा । सरकार नकली या मिलावट वाली दवाइयाँ प्रस्तुत करने के लिये उत्साहित नहीं करती। नकली दवा यदि कभी सरकार की स्वीकृति पाती है तो वह पाती है सरकारी

कर्मचारियों के दोष से। धन के लोभ से वे घनियों के कर्मों में अपने मनुष्यत्व को बेच देते हैं। इसलिए असाधु व्यवसायी अपनी असाधुता की बात सोचकर सदा सशङ्कित रहते हैं, दूसरी तरफ पुलिस एन्फार्समेंट या एन्टीकरप्शन विभाग के कुछ कर्मचारियों के चित्त की दुर्बलता उनके लिए आकाश का ध्रुवतारा बनकर धकधुक करती है। हजार रुपए घूस देकर यदि लाख रुपये का लाभ हो तो बुरा क्या है ? अधिकांश असाधु व्यवसायी यही मनोभाव लेकर चलते हैं। अच्छा पिछली बात पर आवें- इन दुर्नीतियों के लिए मैं सरकार को तिलमात्र भी दोषी नहीं समझता । समस्या के समाधान की कुञ्जी सर्व साधारण के हाथों में है- यही सब से बड़ा सत्य है। प्रश्न उठ सकता है कि जनसाधारण इसके प्रतिकार के लिये कुछ करता क्यों नहीं है ? कुछ लोग कहते हैं कि ये समस्याएं पिछड़े देशों की हैं और पिछड़े देशों में

साधारण जनता अपने अधिकारों के प्रति जागरुक नहीं होती इसीलिए ये अन्याय सहती है। पर क्या यही बात ठीक है? पिछड़े देशों में भी तो एक वर्ग की शिक्षित गोष्ठी राजनैतिक जीवन में अच्छी योग्यता के साथ दलाली करती रहती है। वे तो सर्वसाधारण का मार्ग दर्शन कर सकते हैं। सामग्रिक रूप से न ही सही पर वे जनसाधारण को एक-एक विशेष समस्या के समाधान की मिलित प्रचेष्टा के लिए उद्बुध कर सकते हैं। फिर भी वे करते क्यों नहीं हैं। कारण पानी की तरह साफ है। समाज के ऊपरी वर्ग के लोगों का बड़ा भाग आज तरह-तरह के पापाचार में लिप्त है। अतः समाज के विभिन्न क्षेत्रों में फैली हुई दुर्नीतियों के विरुद्ध मिलकर आवाज उठाने, प्रतिवाद या प्रतिरोध करने अथवा प्रतिशोध लेने का सामर्थ्य उनमें नहीं है। यह तथाकथित शिक्षितों की गोष्ठी जिन किरानी, शिक्षक, इन्जीनियर, सरकारी

कर्मचारी और व्यवसाथियों को मिलाकर बनी हैं- अपने-अपने कर्म क्षेत्र में उनका एक बड़ा भाग दुर्नीति को प्रश्रय दे रहा है। इनका डरपोक मन अन्याय के विरुद्ध परोक्ष रूप से समालोचना कर सकता है; पर ये प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष करने के लिए सामने नहीं आ सकते। चोर, अपचोरों के बीच चोरों की निन्दा कर सकता है। किन्तु, सज्जनों के समाज में बोलते हुये उसके ओंठ काँपने लगेंगे, कलेजा धड़कने लगेगा। पिछड़े देशों के शिक्षित समाज तथा ऊपरी वर्ग के लोगों की अवस्था ठीक ऐसी ही है। दूसरे महायुद्ध ने उन्हें और गन्दे कीचड़ में धकेल दिया है। इनके स्वभाव का संशोधन करना होगा। इनको मनुष्यत्व के स्तर पर उठाना पड़ेगा । अन्यथा समाज की कोई ग्लानि दूर नहीं होगी। किसी समस्या का समाधान नहीं होगा। इसलिए अकेले केवल चिकित्सा के क्षेत्र की दुर्नीतियाँ राष्ट्रीय प्रचेष्टा से, अलाउद्दीन के

चिराग को जादुई शक्ति से दूर हो जाएगी ऐसी आशा करना व्यर्थ है। मनुष्य को मनुष्य के स्तर तक उठाना आज के लिए सबसे बड़ी बात है, सबसे बड़ी साधना है। इस काम के लिए इस महायज्ञ के लिये सामने आकर खड़े हो सकें, ऐसे लोगों का आज बड़ा अभाव है।

निपीड़ित मानवात्मा आज वैसे ही समाज पुरोधा लोगों के लिए आँखें बिछाए बाट जोह रही है। राजनीति प्रवण लोग इस काम में तिलमात्र भी सहायता नहीं कर सकेंगे। मानव इतिहास के गत दो हजार वर्षों के प्रत्येक पदविक्षेप में उन्होंने व्यर्थता का परिचय दिया है।

इसीलिए समाज के प्रत्येक स्तर पर नेतृत्त्व करने का लोभ सम्बरण करना हीं उनके लिए बुद्धिमानी का काम है।

(३) व्यवसायी-पाप की पङ्किलता क्या केवल चिकित्सा व्यवसाय में ही है ? जिस किसी व्यवसायी के मन में अन्दर झाँक कर देखें', सब जगह न हो पर प्रायः समस्त क्षेत्रों में दीख पड़ेगा कि पाप का आकर्षण वहाँ गलपच कर चारों ओर दुर्गन्ध फैला रहा है। आज ऐसी हालत हो गई हैं कि संसार के बड़े भाग में व्यवसाय में प्रवृत्त होने का अर्थ ही है मार्जित रूप से समाज विरोधी कार्य में लिप्त होना -इसके अतिरिक्त कुछ नहीं । माजित रूप से इसलिए कहा- क्योंकि व्यवसायी कैसा भी हो, व्यवसाय का खानदानी ढंग ही है भाषा की मिठास बनाए रखकर चलना ।

सच्चाई की राह पर चलकर क्या व्यवसाय किया जा सकता है ? जी हाँ, क्यों नहीं किया जा सकता है ?

किया तो जा सकता ही है पर सत्पथ पर व्यवसाय करते हुए रातोरात धनी नहीं हुआ जा सकता। प्राचीन काल की वर्णाश्रम समाज व्यवस्था में वैश्यों का समाज धर्म या सत्पथ पर रहते हुए व्यवसाय करना। पर आज ऐसी अवस्था हो गई है कि जो व्यवसाय के लिए अपनी साधुता बिगाड़ने को तैयार नहीं है उनके लिए व्यवसाय चलाना बिलकुल असम्भव नहीं तो भी दुष्कर है।

वैश्य की जीविका ही ऐसी है कि इसमें किसी भी क्षण अतिलोभ की चपेट में फंसकर मनुष्य कोई भी घृणित कार्य में प्रवृत्त हो सकता है। अपने सामने सदा साधुता का एक आदर्श या साधुता का भाव रखने के लिए प्राचीन काल के वैश्य 'साधु' पदवी व्यवहार करते थे एवं समाज में साधु (प्राकृत साहु वर्तमान- साव, साह

आदि) नाम से पुकारे जाते थे। इतिहास पढ़ने से मालूम होगा कि व्यवसाय चलाने की निरंकुश क्षमता हाथों में रहने के कारण अतिप्राचीन काल से ही मानवता के मान से इनका बार-बार पदस्खलन हुआ है एवं बौद्ध युग से समाज के धन सम्पद का अधिकांश भाग इनकी मुट्ठी में आ गया तब भी उस समय के समाज शास्त्र में देखते हैं कि समाजविद् एवं कूटनीतिज्ञ अतिलोभ एवं संचय के पञ्जे में समाज की रक्षा के लिए एक के बाद एक उपाय की उद्भावना करते चले हैं। राजशक्ति क्षत्रियों के हाथों में रहने के कारण मध्ययुग के प्रथम चरण में वैश्यों को अति सञ्चय की वृत्ति के विरुद्ध वे जिस-जिस क्षेत्र में सम्भव हुआ सब तरह का अभियान चलाया। चाणक्य ने कहा है- किसी व्यवसायी का अत्यन्त धनिक होना राष्ट्र के लिए सर्वनाश का कारण होगा। किसी को अति धनिक होना देखकर राजा उसके

ऊपर प्रत्यक्ष और पर रूप से अनेक प्रकार के कर लगाकर उसके धन सम्पद का परिमाण कम कर दे। नहीं तो राष्ट्र को अपने शोषण यन्त्र के रूप में

न पाकर वैश्य राष्ट्र व्यवस्था में उलट फेर कर दे सकता है। चाणक्य ने और कहा, संयत न कर सकने पर राजा को चाहिए कि वह विष प्रयोग या गुप्त घातक के द्‌वारा उसे मरवा दे। बात तो बहुत श्रुतिकटु है किन्तु उस अन्धकार के युग में इसके अतिरिक्त दूसरी कोई राह नहीं थी। वैश्य को सदुपदेश भी दिये जाते थे; कहा-जाता है-अर्थोपार्जन और दान ये दो उसके प्रधान कर्म हैं; सञ्चय उसका धर्म नहीं है; पर संसार के किसी भी देश में किसी काल में वैश्य अपने स्वधर्मोचित कत्त्तव्य का प्रतिपालन नहीं कर सके। प्राचीन काल में अज्ञ लोगों में

धर्मभाव अधिक था अतः वैश्य परलोक की दृष्टि से कुछ दान ध्यान करते थे। पर आज के इस जड़वाद के युग में इस काल को ही सब कुछ समझने वाले वैश्यों का दान धान करके परकाल के खाता में कुछ जमा करने के पक्ष में कोई आग्नह नहीं है। भारत का समाज-शास्त्र कहता है, 'इहलोक में जो दाता है वे ही कृपण है' असल में जो कृपण है, वे ही दाता है। बात कही गई थी असत् वैश्यों के प्रति व्यंग्य के रूप में। दाता ही कृपण है अर्थात् इह लोक में जो दान दिया परलोक के खाता में वही जमा हो गया अर्थात् दाता ने अपने सञ्चय की पक्की व्यवस्था कर ली। और जो इहलोक में कृपण हैं वे सच्चे दाता हैं- क्योंकि इह लोक में मृत्यु के साथ-साथ उनकी कष्ट के साथ अजित समूची सम्पत्ति के साथ उसका सम्बन्ध टूट जाता है। परलोक के खाता मे वह कुछ भी जमा नहीं कर सका अतः कुछ बच नहीं

रहा। पर आज के वैश्य इन सव व्यंग्योक्तियों को भूलता नहीं। अर्थ के उपार्जन तथा सञ्चय में इनका अधिकांश बिलकुल पिशाच की तरह है। संस्कृत भाषा में पिशाच उन्हें ही कहा जाता है जो जीव को गरदन मरोड़ कर सारा रक्त चूस जाता है और हड्डी और मांस रख छोड़ता है। भारत वर्ष में एक कहावत है इन रक्तशोषक पिशाच वैश्यों का स्वभाव समझना कठिन है- कभी तो ये विशुद्ध जल भी छान कर पीते है और कभी ये दूषित रक्त भी बिना छाँने पीते हैं; कभीं ये खरीददार के मस्तक पर पदाघात करते हैं और कभी उसका तलवा सहलाते हैं। इस प्रसङ्ग में यह कह रखना अच्छा होगा कि प्रकृत रूप से तो वैश्य शब्द से तरह-तरह के वृत्तिजीवी उत्पादनशील मनुष्य समझा जाता है पर इसका व्यावहारिक अर्थ कुछ दूसरा ही हो गया है। वैश्य शब्द से आज केवल वे ही लोग समझे जाते हैं जो स्वयं

प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन के काम में तो रत नहीं होते पर केवल खरीद विक्री और दलाली के माध्यम से मुनाफा लूटना ही एकमात्र वृत्ति के रूप में अपनाते हैं। मुनाफा ही जहां एकमात्र साधन और साध्य है वहाँ किसी भी नीचता। और समाज विरोधी मनोभाव के पनपने की पूरी सम्भावना रह जाती है । प्रागसर देशों के वैश्य तब भी एक तरह से अच्छे हैं क्योंकि अपने अधिकारों के प्रति जनसाधारण की सजगता के कारण हो या अपने विवेक के दर्शन के कारण हो वे मार्जित रूप से जनस्वार्थ-विरोधी कार्यों में लिप्त रहने पर भी जनस्वास्थ्य विरोधी कार्यों में लिप्त नहीं होना चाहते या नहीं होते। समाज की समूची आर्थिक संरचना की दृष्टि से विचार कर देखने से, यदि उन्नत देशों के वैश्यों को पिशाच या मार्जित पिशाच कहें तो पिछड़े देशों के वैश्यों के लिए प्रयोग करने योग्य विशेषण खोज पाना कठिन है। ये

केवल खन-चूसकर छोड़ देने वाले नहीं है, हड्डी और मांस भी खा जायेंगे और चमड़ा लेकर डुगडुगी बजाते-बजाते धर्म कथा कहेंगे, तत्त्व चर्चा करेंगे, शास्त्र प्रचार करेंगे, मन्दिर घर्मशाला बनवायेंगे और न जाने कितना क्या-क्या करेंगे। वे जड़वाद की निन्दा करते हैं, जड़वाद की दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक त्रुटियों के कारण नहीं बल्कि जड़वाद के घोर आघात से इनका घरौंदा ही चकनाचूर हो जाने की सम्भावना अधिक है। इसलिये वे जड़वाद का प्रसार रोकने की चेष्टा करते हैं। वे अध्यात्मवाद का समर्थन करते हैं- कोई धार्मिक भावधारा सामने रखकर नहीं वल्कि वे समाज में अध्यात्मवाद के नाम पर जो चीज चलाना चाहते हैं उसमें वास्तव में क्लीवता का ही खोज निहित है। इस क्लैव्य भावधारा के पोषण के लिए उन्हें एक श्रेणी के

अपने समगोत्रीय धर्म व्ययसायी ही सहकर्मी के रूप में मिल जाते हैं।

वैश्य ओर धर्मव्यवसायियों का मिलाजुला यह पापचक्र यह षड्यन्त्र लोगों को बुलन्द आवाज के साथ अपने अधिकार की घोषणा के मार्ग से अलग रखना चाहता है और उन्हें बताना चाहता है कि वैश्यों का यह खून चूसना असल में कोइ अनाचार नहीं है। बल्कि प्राकृतिक विधान है और यह अत्याचार और जिन पर यह अत्याचार होता है दोनों के लिये पार्थिव जगत में अधिकार की प्रतिष्ठा कर स्वच्छन्दता लाने को चेष्टा व्यर्थ है। और यह भी उचित है कि इस जगत् को भूल कर काल्पनिक स्वर्ग में अनन्त सुख भोग के लिए धर्मव्यवसायियों का पोषण किया जाए ।

अच्छा पिछली बात पर आवें- आज के वैश्यों ने लोभवृत्ति को बेलगाम छोड़ दिया है, सम्भव है उनके कान तक आसन्न मृत्यु की घंटाध्वनि पहुंच रही है; त्याग की साधना, तपस्या, तपस्या को सम्बोधि न रहने के कारण उनका बड़ा भाग कत्तव्य अथवा जीवन का मार्ग पा नहीं रहा है। दिग्निदिक ज्ञानशून्य होकर आज वे सोचते हैं चलो हमारी अवधि ही जब इतनी नपी तुली है तब इसीमें जितना लूट सको लूट लो । जैसे पाओ धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सुपरिणाम-कुपरिणाम की बात त्ताक पर रख कर अपना घर करो। इन असत् वैश्यों में कुछ मगरमच्छ के स्वभावा के हैं वे आज राजनीति के रंगमञ्च से व्यवस्थित रीति से सहायता की भूमिका का अभिनय करते हैं। मनुष्य का भक्षण तो ये भी करते हैं पर कुछ दिखावटी आंसू ढरका कर । जीवन का मार्ग तो

ये भी नहीं पा सके हैं। इनकी चेष्टा बस इतनी है कि किसी प्रकार अभिनय करके मन को भुला रख कर इस अवधि को कुछ लम्बा कर लें । अहिंसक बगुला बनकर केवल तत्त्वकथा सुनाकर ये वर्गसंघर्ष को रोकथाम करना चाहते हैं, यद्यपि ये असल में जानते हैं, अच्छी तरह जानते हैं कि विश्व की एकता के भाव की साधना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ही अथवा न हो पर कम से कम जहाँ समष्टि जीवन के एक गुरुत्वपूर्ण अंश में नहीं है वहाँ संघर्ष को छोड़कर आर्थिक विषमता तथा वैश्यों के शोषण को दूर करना बिलकुल असंभव है।

अल्प संख्यक वैश्य, जिनमें सच्ची मनुष्यता का उन्मेष होना प्रारम्भ हुआ है -जो जीवन के मार्ग का सन्धान पा गए हैं केवल ऐसे सवैश्य ही समाज जीवन

के वैषयिक व्यापार के परामर्शदाता तथा परिचालक होने की योग्यता का दावा कर सकते हैं। ऐसे वैश्यों से ही यह सुना जा सकेगा - "What I save, Ilose: It is sin to die rich".

क्या वैश्यों को इस पैशाचिक क्षुधा, उद्दाम वीभत्सा से परित्राण का कोई मागं नहीं है ? कोई कहता है सारा व्यवसाय राष्ट्र के नियन्त्रण में हो तभी जन-साधारण शोषण से छुटकारा पा सकता है। कोई कहता है- सब कुछ सहकारिता के अधार पर परिचालित हो जिससे जनसाधारण अपना आर्थिक भाग्य स्वयं नियंत्रित कर सकेगा । और कुछ लोग कहते हैं- व्यवसाय व्यक्तिगत मालकियत के आधार पर ही हो, राष्ट्र केवल परोक्ष रूप से नियन्त्रित रखे एवं शोषण करने वालों के अति लोभ को शासन दंड से संयत रखे या जहाँ राष्ट्र के लिए

परोक्ष नियन्त्रण भी असुविधाजनक हो वहाँ अतिरिक्त कर, निर्धारण कर, व्यवसायियों को अति धनी होने से रोके । जो लोग सीवे पूँजीवाद का समर्थन करते हैं उनके मत का मैंने यहाँ उल्लेख ही नहीं किया क्योंकि मैं नहीं समझता कि उनका मत भी कोई मूल्य रखता है। उनकी तो कामना ही यही है कि समाज जीबन में त्रुटि विच्युति रहे, छिद्र रहे- उन्हीं रन्ध्रों से वे समाज का प्राणरस शोषण करते रहे हैं।

शिल्प व्यवसाय के व्यापक रूप से राष्ट्रीयकरण का अनेक कारणों से समर्थन नहीं किया जा सकता। उनमें दो प्रधान कारण है। पहला है- कर्मचारियों पर निर्भरशील (याद रखना होगा कि मुख से चाहे कोई कुछ भी कहे पर राष्ट्रीय संरचना में कर्मचारियों के तन्त्र का एक

गुरुत्वपूर्ण स्थान है जिसे छोड़कर सेवा तो चल सकती है पर शासन नहीं चल सकता। राष्ट्र के लिए देश के सब क्षेत्रों में फैले हुए छोटे-बड़े प्रत्येक व्यवसाय और शिल्प प्रतिष्ठान का उचित रूप से परिचालन करना बिलकुल असम्भव है, केवल हिसाब निकास का ही नहीं बल्कि काम करने वालों के परिचालन के क्षेत्र में भी उससे एक शिथिलता रह जाती है। दूसरा कारण है - व्यत्तिगत अधिकार में परिचालित प्रतिष्ठान, जिस प्रकार शिल्प में अथवा व्यवसाय में दक्षता दिखला सकते हैं, राष्ट्र के द्वारा परिचालित प्रतिष्ठान वह दक्षता नहीं दिखला सकते हैं- दिखला सकना सम्भव भी नहीं है। कोई भी चीज प्रस्तुत करने में राष्ट्रीय संस्था का जो व्यय होता है, व्यक्तिगत प्रतिष्ठान उसकी अपेक्षा बहुत कम खर्च में अधिक दक्षता के साथ वह काम पूरा करते हैं। राष्ट्रीय संस्था के प्रति राष्ट्र का विशेष समर्थन या

पक्षपात न रहे तो गैरसरकारी प्रतिष्ठान के पास-पास राष्ट्रीय प्रतिष्ठान का बचा रहना भी सम्भव न हो ।

सारे शिल्प व्यवसाय को सहकारिता के आधार पर चलाने का प्रस्ताव भी अव्यवहारिक है क्योंकि सहकारी प्रतिष्ठान वैसी ही जनमण्डली के मिलित श्रम और वृद्धि से गठित होती है जो एक ही आर्थिक संरचना में, एक ही प्रयोजन की प्रेरणा से रहती है और सहकारिता के आधार पर उत्पन्न (या खरीदी हुई) वस्तु के लिए मोटे तौर पर अपने हाथ में तैयार बाजार पाती है। इन तीन तत्त्वों का एक जगह समावेश न हो तो संस्था को सहकारी संस्था नहीं कहा जा सकता, तब वह सदस्यों की सीमित क्षमता से परचालित व्यावसायिक संस्था

विशेष बन जाती है। सहकारिता के मूल धर्म का ही वहाँ अभाव रहता है ।

गैरसरकारी अधिकार के व्यवसाय प्रतिष्ठान का सरकारी नियन्त्रण में चलाना तो पूर्ण राष्ट्रीयकरण से भी खराब है क्योंकि उसमें राष्ट्रीयकरण की त्रुटियाँ तो रहेंगी ही और ऊपर ले एक धनी एवं विक्षुब्ध वैश्य समाज भी राष्ट्रविरोध की सारी सम्भावनाएँ लिए हुए जनसाधारण में रहेगा। और वह पुनः प्रतिष्ठा पाने के लिए कोई भी हीन मार्ग उठा नहीं रखेगा ।

शिल्प व्यवसाय पर 'राष्ट्र का परोक्ष नियन्त्रण अथवा उसके अतिलोभ को संयत करने की प्रचेष्टा भी व्यर्थ होना स्वाभाविक है क्योंकि असाधु कर्मचारियों से

मिलकर षड्यन्त्र करके नकली खाते का झूठा हिसाब दिखाकर राष्ट्र की आंखों में धूल झोंकना व्यवसायियों के लिए कुछ भी कठिन नहीं है। ऊपर से पूरा पूरी गैर-सरकारीप्रतिष्ठान के रूप में रहकर ये जिस मूल्य के विनिमय में जनसाधारण की सेवा करते, इसमें वे वह भी नही करेंगे। अपना अधिक खर्च दिखाने के लिये उत्पादित वस्तु की भी कीमत बढ़ा देंगे ।

व्यवसाय में व्यवसायियों को निरंकुश स्वाधीनता देकर केवल कर निर्धारण के क्षेत्र में कठोरता करने से जो सफलता नहीं मिलती यह तो अधिकांश राष्ट्रों की जानी हुई बात है। आज संसार के अधिकांश राष्ट्रों में बिक्री कर, खरीदकर, आयकर, अतिलाभ कर आदि से सरकार को जो आय होती है वह तो जो उचित रूप से

मिलनी चाहिए; उसका बहुत छोटा अंश मात्र होती है। कर वसूल करने वाले कर्मचारियों की अपेक्षा कर देने में फाँकी देने वाले बहुत अधिक बुद्धिमान और अभिज्ञ हैं। समस्वार्थ के आधार पर वे अच्छे एकतावद्ध भी हैं पर वसूल करने वाले एकतावद्ध नहीं है उनमें बखरा लेकर संघर्ष है, उनमें नीतिगत भेद है, विश्वास घातकता है, अतः कर निर्धारण कर वैश्यों का प्रभाव कम करना यदि असम्भव नहीं तो भी बहुत कठिन है और यदि कष्ट करके उसे सम्भव भी किया जाए तो भी इससे जनसाधारण का कुछ अधिक उपकार नहीं होता ।

मेरी समझ से वैश्यों की इस लोलुप्ता के पञ्जे से समाज को बचाने के लिए बीच का रास्ता अपनाना होगा। बीच का रास्ता कहकर मैं ऐसा कुछ नहीं कहता

कि वैश्यों की लोभवृत्ति को कुछ हद तक सहकर उनके साथ किसी तरह समझौता करना होगा। मैं यही कहना चाहता हूं कि जो कुछ भी किया जाए उससे समाज का सन्तुलन ठीक-ठीक बना रहे। झोंक में आकर या विद्‍वेषवश ऐसा कुछ कर बैठना उचित नहीं होगा जिससे समाज जीवन के किसी क्षेत्र में उलट फेर दीख पड़े अथवा सत्नीति के आधार पर जो व्यवस्थाएँ गठित हुई हैं उनमें दरार पड़ जांए ।

अस्तित्व रक्षा के लिए सबसे आवश्यक चीज है अन्न और उसके बाद वस्त्र । अतः पहले इस अन्नवस्त्र की समस्या को लें। अनेक देशों में अन्न वितरण की व्यवस्था व्यवसायियों की मुट्‍ठी में है। ऐसे देशों की संख्या भी कम नहीं है जहाँ केवल अन्न का बन्टन ही

सूचो-पत्र

नहीं उत्पादन भी व्यवसायियों के हाथ में है। अर्थात एक-एक व्यवसायी या तथाकथित बड़े कृषक के कब्जे में अपने नाम पर था बेनामी हजारों-हजार बीघे जमीन का स्वत्वाधिकार है और उसके कर्मचारी या प्रजा या अधियादार के रूप में सच्चा किसान खून-पसीना एक कर जमीन से सोना उगाकर उसका बड़ा हिस्सा श्रमविमुख मालिक के घर पर पहुंचा आता है। संसार भर में नीतिगत रूप से यह बात मान ली गई है कि खेतों पर स्वत्वाधिकार कृषकों का ही होना चाहिए और इन कृषकों तथा कर अदा करने वाली सरकार के बीच तीसरी किसी सत्ता की उपस्थिति बिलकुल अवांछनीय है । अतः जहाँ अन्न ऊपजाने का प्रश्न है वहां तो मानना ही होगा कि इस क्षेत्र में उपजाने में कोई हिस्सा न लेने वाले व्यवसायी के स्वत्वाधिकार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पर जो खुद कृषक है अर्थात नीतिगत रूप से जिसे

व्यापारी कहा जा सकता है क्या जमीन पर उसका भी व्यक्तिगत स्वत्वाधिकार रहना चाहिए ? - नहीं, हरगिज नहीं। क्योंकि एक व्यक्ति अधिक जमीन पर खेती नहीं कर सकता और उतनी जमीन का मालिकाना अधिकार लेकर उन्नत और उन्नत खाद्य सिचाई आदि की अच्छी व्यवस्था कर सकना इसके लिए असम्भव है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर व्यक्तिगत सुविधा असुविधा का प्रश्न भी उठता है जिसके कारण किसान के लिए रोपनी, कटनी आदि की उचित व्यवस्था सम्भव नहीं भी हो सकती है। और जमीन परती पड़ी रह जा सकती है। ऐसी परती जमीन मनुष्य जाति के लिये बोझ के सिवा कुछ नहीं। और भी अनेक असुविधाएं हो सकती हैं। व्यक्तिगत मालिकाना के हेतु जमीन पर चिह्न लगाने के लिए आल देना पड़ता है जिसमें बहुत सारी जमीन बेकार हो जाती है। वस्तुतः जमीन की सतह बराबर न

रहने के अतिरिक्त आल देने का अर्थ जमीन बर्बाद करने के सिवा कुछ नहीं है। अपनी निर्दिष्ट या सीमित जमीन में उन्नत खेती की व्यवस्था करना भी असुविधाजनक है एवं इस भ्रसुविधा के कारण अनेक देश विद्या-बुद्धि में उन्नत होने पर भी कृषि के लिये ट्रैक्टर एवं अन्य वैज्ञानिक यन्त्र तथा विधि व्यवस्था आज भी नहीं चला सके हैं। यदि कोई कहे कि अकृषि-जीवी को व्यक्तिगत मालिकाना जमीन नहीं रहनी चाहिए पर कृषिजीवी की रहनी चाहिए क्योंकि कृषकों को अपनी जमीन के प्रति खास ममता रहती है तो इसके उत्तर में यह भी तो कहा जा सकता है कि अकृषिजीवी को भी अपनी जमीन के प्रति विशेष आकर्षण था और है। असल में इसमें व्यत्तिगत भावुकता को प्रश्रय न देकर सामूहिक स्वार्थ का ही विधान करना चाहिए । मैं तो समझता हूं, संसार की सारी जमीन संसार के समस्त

जन की साधारण सम्पत्ति है। व्यक्ति विशेष समाजविशेष, राष्ट्र विशेष पर एक विशेष भूखण्ड के यथोचित संरक्षण एवं सदुपयोग का भार है। इसलिए इस क्षेत्र में भी कहता हूं कि जमीन के स्वत्वाधिकार के विषय में किसी को कहने सुनने की जरूरत नहीं है पर रक्षणावेक्षण और सदुपयोग का भार वहाँ-वहाँ की सरकार पर है और सरकार अपना कर्तव्य सच्चे किसानों का उत्पादक समवाय गठित कर पूरा कर सकती है। इस सामूहिक अधिकार तथा सामवायिक परिचालन में व्यक्तिगत अधिकार की त्रुटियां नहीं रहेंगी एवं यथोचित वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से फसल का उत्पादन बढ़ा सकना भी आसानी से सम्भव हो सकेगा।

खाद्यान्न के बन्टन का भी अधिकार व्यवसायियों को देना उचित नहीं है। इस पर पूरा अधिकार उपभोक्ता

समवाय का होना चाहिए। खाद्यानों का उत्पादन एवं बन्टन वैश्यों के हाथ से हटकर सरकारी प्रतिष्ठानों के हाथों में जब तक नहीं भाता तब तक खाद्य के बाजार में फटकावाजी, चोरबाजारी और मिलावट को रोक सकना किसी भी तरह सम्भव नहीं होगा। इस क्षेत्र में थोड़ी भी दुर्वलता दिखाने का परिणाम भयानक होगा। जो मनुष्य को प्यार करते हैं एवं राजनीति की चर्चा करते हैं उनमें ऐसी दुर्बलता उचित नहीं है। चोरबाजारी या फटकाबाजी करने वालों के गुदामों में अनाज सड़े चूहे खाएँ और मनुष्य भूख की आग में तिल-तिल कर जलेगा- यह व्यवस्था मानवोचित नीति के विरुद्ध है।

उसके बाद आती है वस्त्र और खाद्य के आनुषंगिक रूप से जलावन की समस्या । व्यावसायिक आधार पर

खाद्य बन्टन की व्यवस्था में जो त्रुटियां स्वाभाविक हैं वे इसमें भी हो सकती है और है भी अतः अत्यावश्यक वर्ग के वस्त्र (चाहे सब प्रकार के वस्त्र न भी हो) और जिस काल में या जिस देश में जो अत्यावश्यक जलावन हो (कहीं लकड़ी, कहीं कोयला और कहीं तेल) उनके बन्टन का अधिकार स्थानीय उपभोक्ता समितियों के अधिकार में होना चाहिए। अत्यावश्यक वस्त्रों का उत्सादन और जहाँ तक सम्भव हो अत्यावश्यक जलावन के उत्पादन को व्यवस्था उत्पादक-समवाय के अधिकार में होनी चाहिए और जहां वह सम्भव न हो (जैसे प्रतिकूल जलवायु में सुता तैयार करना) वहां उस शिल्प या उसका आनुषाङ्गिक कच्चा या आधा तैयार माल उत्पन्न करने और उसे उत्पादक समवाय तक पहुंचाने का अधिकार स्थानीय राज्य सरकार या स्थानीय स्वायत शासन द्वारा शासित प्रतिष्ठान के अधिकार में रखना

चाहिए, व्यवसायियों के हाथों नहीं। व्यवसायियों के हाथों, बहुत हुआ तो ऐसे ही खाद्य और जलावन के उत्पादन और बन्टन का भार दिया जा सकता है जो बहुत आवश्यक न हो क्योंकि ऐसी व्यवस्था में परिस्थिति के दवाव में डालकर जनसाधारण के शोषण का अवसर अधिक नहीं मिलेगा ।

लिखने पढ़ने के उपकरण और जो मनिहारा (जैसे ब्लेड, कपड़े धोने का साबुन) वस्तुएँ विलास के उपकरण नहीं हैं उनके उत्पादन का अधिकार व्यवसायियों के हाथों में न रहना ही अच्छा है। यह अधिकार उत्पादक समवाय अथवा राज्य सरकार के हाथों रहना चाहिए। और बन्टन अवश्य ही उपभोक्ता समवाय के माध्यम से होना चाहिए। जो मनिहारा वस्तुएँ विलासोपकरण में

गिनी जाती हैं उनका उत्पादन और बन्टन व्यवसायियों के द्‌वारा हो सकता है। गृह निर्माण के जिन उपकरणों का सब जगह यथेष्ट रूप से उत्सादन नहीं किया जा सकता (जैसे सीमेंट और घातुओं के बने उपकरण) उसका उत्पादन व्यवसायियों के हाथों में रहना निरापद नहीं है। इनका उत्पादन प्रत्यक्ष रूप से राज्य सरकार के द्‌वारा अथवा राज्य सरकार के प्रत्यक्ष समर्थन से बड़े-बड़े समवाय प्रतिष्ठानों के परिचालन में किया जाना चाहिए । बन्टन व्यवस्था भी प्रत्यक्ष रूप से राज्य सरकार के कत्तत्व में या राज्य सरकार के नियन्त्रण में स्वायत्तशासित प्रतिष्ठानों के द्‌वारा होना चाहिए। इन सब क्षेत्रों में व्यवसायियों को अपनी टांग अड़ाने का अवसर देना उचित नहीं। क्योंकि जिस चीज की माँग अधिक और श्रापूति सीमित होगी उसीमें ये व्यापारी कृत्रिम उपायों से अभाव की मात्रा बढ़ाना चाहेंगे। गृह

निर्माण के क्षेत्रों में भी ये असाधु व्यवसायी असत् सरकारी कर्मचारियों के साथ षड्यन्त्र करके रखते हैं एवं आधा बने मकान के मालिकों को ऐसी परिस्थिति में फंसा देते हैं कि उसे चोर बाजार से सिमेन्ट, कोरोगेटेड टिन आदि खरीदने के लिए वाध्य हो जाना पड़ता है। जिन कामों में लोगों को तीखे अनुभव हुए हैं उनके आनुषङ्गिक कारणों का सामाजिक चेतना के लोगों को यत्नपूर्वक परिहार गृह निर्माण के उपकरणों की तरह दवाइयों के व्यवसायियों पर छोड़ देना खतरे से खाली नहीं है। करना चाहिए। भी उत्पादन की इसी कारण व्यवस्था को जो लोग लोभवश दूध में मैदा या गुड़ का बताशा या ऐसी ही दूसरी चीजें मिलाकर लैक्टोमीटर की जाँच में दूध का घनत्व ठीक रखने की चेष्टा करते हैं, जरा भी नहीं सोचते कि उनके इस काम से कितने निरीह खरीददार, बच्चे रोगी किस तरह क्षतिग्नस्त हो

रहे हैं; जो लोग दवाइयों में मिलावट करके, समाज के प्रति चरम विश्वासघात करके रोगी को तिल-तिलकर मौत के मुंह में ठेल रहे हैं उन हत्यारों के हाथों समाज के लिए किसी भी अत्यन्त आवश्यक द्रव्य के उत्पादन एवं बन्टन की व्यवस्था देना वाञ्छनीय नहीं है। दवा बनाने का अधिकार स्वायत्त शासित प्रतिष्ठानों के हाथों में ही रहना चाहिए और बन्टन की व्यवस्था भी ये प्रतिष्ठान स्वयं कर सकते हैं या वे यह काम उपभोक्ता समवायों के माध्यम से करवा ले सकते हैं। कुछ खास-खास दवाइयां प्रयोजन के अनुकूल, राज्य सरकार या केन्द्रीय सरकार के उद्योग से भी बनवाई जा सकती हैं। पर बन्टन स्वायत्तशासित प्रतिष्ठानों या सरकारी संस्थानों के द्वारा ही होना अच्छा होगा ।

अनतिप्रयोजनीय खाद्य, (जैसे मिठाइयां पान आदि) गृह निर्माण के उपकरण आदि के उत्पादन एवं बन्टन की

व्यवस्था व्यवसायियों के हाथों छोड़ी जा सकती है। बैंकों के परिचालन में भी व्यवसायियों का अधिकार नहीं होना चाहिए ऐसा देखा गया है कि असाधु परिचालक वर्ग अमानत रखने वाले दरिद्रवर्ग के बड़े कष्ट से अर्जित अर्थ की निरापत्ता की ओर बहुत वार ठीक-ठीक यत्न नहीं लेता और बेपरवाह एवं गैरकानूनी तौर पर अर्थ विनियोग कर अपने लाभ का रास्ता बना लिया हो या नहीं पर (बहुत बार ऐसा हुआ है) अनेक मध्यवित्त लोगों को राह का भिखारी बना चुका है और ऐसे मध्यवित्त लोगों में से अपने बुढ़ापे को सारी जमा पूंजी खो बैठने वालों की संख्या भी कम नहीं है।

व्यक्तिगत स्वत्वाधिकार के तौर पर व्यवसाय का अवसर जितना कम दिया जाए और साथ ही समवाय

एवं स्वायत्तशासित प्रतिष्ठानों के माध्यम से उत्पादन और बन्टन की व्यवस्था जितना अधिक बढ़ाई जाए उतना ही कल्याणप्रद होगा। इस उत्पादन और बन्टन में राज्य सरकार जितना कम जुड़ी रहेगी उतना ही जनता के साथ उसका सम्बन्ध अच्छा रहेगा। इस क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार के हाथ में जितना कम अधिकार रहे उतना ही अच्छा ।

व्ययसाय में चोराबाजारी, फाटकावाजी, मिलावट, गैरकानूनी तथा बनावटी अभाव निर्माण करना आदि अपराधों के विरुद्ध यथोचित व्यवस्था ले सकने का अधिकार सम्बद्ध राज्य सरकार के हाथों में तो रहना ही चाहिए बल्कि व्यापक आधार पर संगठित स्वायत्त शासित प्रतिष्ठानों (जैसे जिला परिषद, नगरनिगम) के हाथों में भी यथेष्ट क्षमता रहनौ चाहिए क्योंकि यदि

किसी स्थानीय अपराधी के विरुद्ध जनसाधारण कोई व्यवस्था लेना चाहे और उसे पुलिस, थाना, सदर, जिला का चक्कर काटते-काटते ६ महीने साल भर के बाद राजधानी में आकर मालूम हो कि इस अपराध में दण्ड देने का अधिकार राज्य सरकार को नहीं बल्कि केन्द्रीय सरकार को है-तो यह कोई प्रशंसनीय बात नहीं होगी। असाधता-निरोधक व्यवस्था अपनाने के लिए उपयुक्त कानून बनाने का अवाध अधिकार राज्य सरकार के हाथों में ही रहना चाहिए। व्यवसाय में असाधुता को दूर करने के लिए संसार में सब जगह जहाँ तक सम्भव हो अवाध वाणिज्य प्रथा प्रचलित होनी चाहिए एवं सब देशों में फाटका बाजार बन्द कर देना चाहिए ।

अभिनेता :-

सूक्ष्मतर मानस कोषों में सम्वेदन जागृत कर जो लोग समाज के लिए कलारस प्रस्तुत करते हैं मैं ऐसा नहीं कहता कि वे गायक शिल्पी या अभिनेता सभी व्यवसायी हैं। यहां मैं व्यवसायी शब्द को मानसिकता की दृष्टि से व्यवहार कर रहा हूं। अर्थात् जो शिल्पी रोटी कपड़े या परिवार प्रतिपालन के लिये अर्थग्रहण करते हैं उन्हें व्यवसायी या व्यवसायी मनोवृत्ति वाला कहना तो ठीक नहीं होगा तो भी यह बात ठीक है कि इन शिल्पियों या आर्टिस्टों का (इनमें से अभिनेताओं का ही नाम सबसे अधिक लिया जाता है बड़ा भाग सोलह आना से अधिक अठारह आना व्यवसायी मनोवृत्ति लेकर चलता है। मैं प्रधान रूप से इनके विषय में ही कह रहा हूं।

सूचो-पत्र

कलारस वितरण करने का उद्‌देश्य ही है मन के निभृत तथा अन्धकारमय कोषों तक प्रकाश की निर्झर धारा बहाना। कम से कम कुछ देर के लिए जीवन को एकरसता के वातावरण से मुक्त कर आनन्दमय करना। पर उपभोक्ता की यह आनन्द तृप्ति समाज जीवन में तभी सार्थक होती है जब वह कल्याण मधुर भाव लेकर समाज के सम स्तरों में अपना विस्तार करती है अर्थात् कलारस ग्रहण करने. की चरम परिणति होती है जीवों के प्रति कल्याण मधुर भाव की उत्पत्ति में तथा प्रसुप्त भावों के पुनरुजीवन में। सब स्वीकार करेंगे कि यह तभी हो सकता है जब कला परिवेशक और कलाग्नहीता के बीच मधुर सन्पर्क हो। व्यावसायिक सम्पर्क के द्‌वारा यह सम्भव नहीं। अतः देश के कलाशिल्प को कला व्यवसायियों के हाथों नहीं छोड़ा जा सकता है।

जो कला व्यवसायी नहीं हैं बल्कि सच्चे कला शिल्पी या कलारसिक हैं उन्हें आज भी संसार के बड़े भाग में कला के लिए अर्थाभाव तथा अन्यान्य असुविधा और निर्यातन स्वीकार करना पड़ रहा है। और कला व्यवसायी दोनों हाथों से नाम, यश, अर्थ लूट रहे हैं; समाज में उन्हीं का मान है। युवकों में वे ही हीरो बने हुए है या अभिनय के दीवानों के लिए वे ही आराध्य देवी है। उन्हीं के छवि ड्राइ गा रूमों में सजाए जाते हैं, अलबमों में इनके ही हस्ताक्षर सजाए जाते हैं। मैं कहता हूं कला सरस्वती को लक्ष्मी की दासता से मुक्त करना होगा; सच्चे खानदानी कला विदो को निर्वाध अवसर देना होगा, कला व्ववसायियों को गतिविधि को नियन्त्रित करना होगा, अभनिय जगत् की फाटकाबाजी बन्द करनी होगी ।

सूचो-पत्र

कुछ लोग कहते हैं कि सिनेमा थियेटर और दूसरे सारे प्रेक्षागृह या प्रेक्षा व्यवस्था केवल शिल्पियों के द्वारा सहकारी आधार पर परिचालित हो। सुनने में यह प्रस्ताव अच्छा लगने पर भी इसका पूरा समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि जो जन्मजात शिल्पी हैं वे भले ही मिट्टी के पुतलों की कल्याण कामना में डूबे रहें पर उनका मन वास्तविकता की कठोरता की अपेक्षा अलग, दूर-दूर चक्कर काटना चाहता है। अतः समवाय के परिचालन के लिए जिस वास्तव बुद्धि की आवश्यकता हैं, उनमें अधिकतर उसका अभाव रहता है। मैं समझता हूं प्रक्षागृह या प्रेक्षा व्यवस्थाओं का अधिकार तथा आर्थिक नियन्त्रण का भार राज्य सरकार के सहयोग से स्थानीय स्वायत्त शासित प्रतिष्ठानों के हाथों में रहना

चाहिए। पर प्रेक्षणीय विषय का निर्वाचन तथा कला सम्बन्धी सब बातों में शिल्पियों के हाथों में निर्वाध अधिकार होना चाहिए । शिल्पियों की योग्यता तथा जीवन के निर्वाह के मान और प्रयोजन के अनुकूल उनका वेतन निश्चित किया जाना चाहिए एवं नेट लाभ का बड़ा भाग बोनस के रूप में उनके बीच बांट देना चाहिए। अवकाश प्राप्त करने पर उनके लिए पेन्शन की भी व्यवस्था होनी चाहिए ।

किसी भी कारण से देश का तरुण समाज जिसके या जिनके प्रति आकृष्ट हुआ करता है ऐसे व्यक्तियों के आदर्श तथा चरित्र के प्रति समाज तथा राष्ट्र को सजग तथा सतक दृष्टि रखनी चाहिए अन्यथा उनके प्रभाव में पड़कर तरुण एवं तरुणियों के (जो समाज की भावी

आशा है) सामूहिक रूप से दिग्भ्रान्त होने की सम्भावना रहेगी । अतः कलाविदों में आचरण, जीवनप्रणाली तथा व्यक्तिगत चरित्र की दृढ़ता अत्यन्त आवश्यक है। एक वर्ग के युवकों के लिए जो आदर्श पुरुष या आदर्श नारी के रूप में पूजित है यदि वे चरित्र से भी आदर्श हो तो उनसे प्रभावित तरुण-तरुणियों का भी चरित्र उन्नत होगा। इसके अतिरिक्त ये दृढ़ चरित्र आदर्शवादी शिल्पी या अभिनेता और भी मधुर रूप से और भी निदर्दोष रूप से अपने शिल्प का विकाश करने में समर्थ होंगे।

अन्यथा दुश्चरित्र मद्यप, अर्थलोलुप इन छायादेवियों का दल समाज के कलङ्क के रूप में भक्तों के ललाट पर शोभित होगा ।

आर्ट या शिल्प कला का स्वभाव ही ऐसा है कि इसकी चर्चा करने के लिये विशेष प्रकार की सूक्ष्म मनीषा तथा मानसिकता के साथ हृदयावेग नितान्त आवश्यक है। अतः शिल्पी मात्र जब कलासाधना में रत नहीं रहते उस समय उनकी सूक्ष्म मनीषा या मानसिकता और हृदयावेग हीन से हीनतर वृत्तियों के माध्यम में मानों बहुत कुछ बाध्य होकर चक्कर काटता है। इस मनोवैज्ञानिक कारण से ही हमलोग साधारणतया देखते हैं कि जिसका नृत्य, गीत. अभिनय अथवा अन्य कला निपुणता प्रेक्षागृह में अजस्त्र दर्शकों की अकुण्ठ प्रशंसा पाती है वही प्रक्षागृह से बाहर अपने व्यक्तिगत जीवन में अपनी उसी सूक्ष्म कलाशक्ति का ठीक उसके उल्टे तौर पर अर्थात अति स्थूल जड़ भोग की ओर लगा देता है। इसी कारण अत्यन्त सुन्दर कोर्तन करने वालों के मुँह से अत्यन्तहीन गाली गलौज सुनते हैं;

अतिवैराग्य-साधकों में देखते हैं अत्यधिक भोगलिप्सा प्रथम जीवन में जो कठोर नैष्टिक ब्रह्मचारी था उसे ही प्रौढ़ होने पर देखते हैं हीन, दुराचारी, लम्पट के रूप में । अभिनेता भी इसके अपवाद नहीं है। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक परिणाम से बचने का एकमात्र उपाय है सदा वृहत का भाव लेना, सदा कंल्याण मघुर भाव से संसार को देखना-शिल्पी तथा अभिनेताओं को यह बात जरा भी नहीं भूलनी चाहिए क्योंकि उन पर समाज के लिये बहुत अधिक दायित्व है और इसका प्रभाव अपरिमाप्य है। पहले की तरह आज संसार दुराचारिता के अभियोग के कारण शिल्पियों का स्वतन्त्र नटसमाज बनाने के लिये तैयार नहीं है आज नट भी अवशिष्ट समाज का अंग होते जा रहे हैं और भी होंगे और समाज के वृहत्तर स्वार्थ की बात सोचने से यह उचितभी है। समाज के भारतवर्ष में नट कागज-कलम में भले ही

समाज में अन्तर्भुक्त न हो पर वास्तव जगत में उन्हें सामाजिक स्वीकृति मिल गई है, मिल रही है इसलिये नट-नटियों के व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता की ओर अत्यन्त कठोर दृष्टि रखनी होगी। वे कही समाज का कोढ़ बनकर सारे शरीर की व्याधि का कारण न बन बैठें । जहाँ नट-नटियां सामाजिक पवित्रता की यह प्राथमिक योग्यता अर्जन न कर पाएँ या अर्जन करने की उनमें इच्छाहीन हो वहां समाज या राष्ट्र का कत्र्तव्य है कि वह परिस्थितियों के दबाव से उन्हें सद्भावपूर्ण जीवनयापन के लिये बाध्य कर दे दुराचारी नट या नटी - वे चाहे कैसी भी ऊँची प्रतिभा से सम्पन्न क्यों न हों उन्हें अपनी कला निपुणता के प्रदर्शन के अधिकार से वञ्चित कर स्वभाव संशोधन विद्यालय में भेजना होगा।